सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष – शास्त्र

भाग 15

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोक्ष-शास्त्र

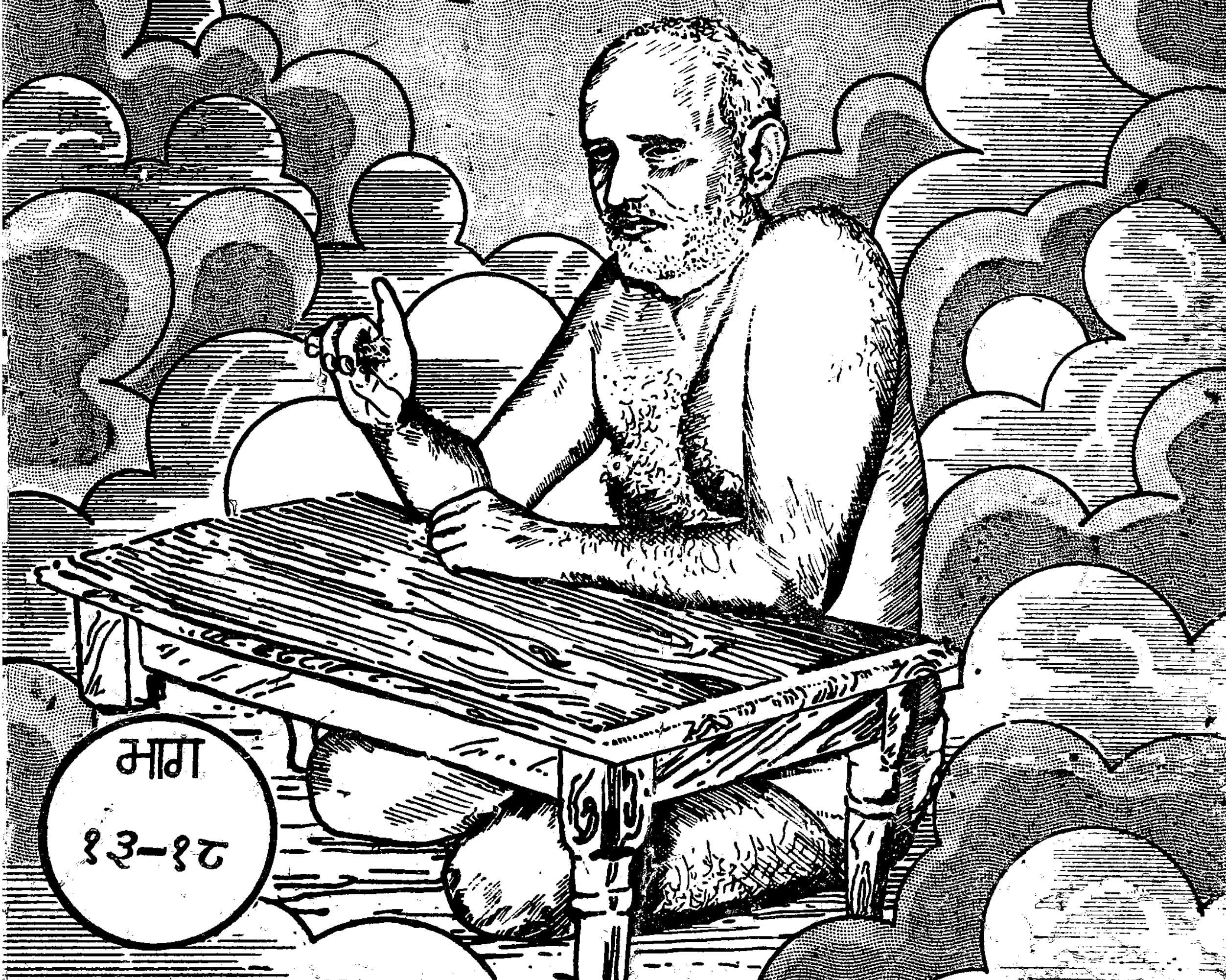

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला 13 से 14 भाग
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर - मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रकाशकीय

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

श्रीमदुमास्वामी द्वारा प्रणीत 'मोक्ष शास्त्र' जैन धर्म व जिनशासन का प्राण है। प्रणेता ने छोटे छोटे सूत्रों में गागर में सागर भर दिया है। इस पर आठ दस शताब्दी पूर्व श्रीमद्भट्टाकलंकदेव, श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी जसे दिग्गजों ने टीकाएँ की हैं। परन्तु टीकाएँ संस्कृत में होने के कारण जनसामान्य के उपयोग में नहीं आतीं।

यह समाज के परमहित व उपकार की बात है कि पूज्य गुरुवर्य्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन किये हैं। धर्म के मर्म को महाराज श्री ने किस प्रकार उजागर किया है, यह तो ग्रन्थ के अध्ययन से ही पता लगता है।

जिज्ञासु बन्धुओं से निवेदन है कि इस प्रवचन में संजोये रत्नों का लाभ उठायें जिससे मोक्ष मार्ग में प्रगति हो और सत्य सहज आनन्द प्राप्त हो।

मंगलाकांक्षी
मंत्री
सहजानन्द शास्त्रमाला
मेरठ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ॐ

मोक्ष शास्त्र प्रवचन

पञ्चदश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्याय तीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी 'सहजानन्द' महाराज

देवों के परिचय का प्रारम्भ—मोक्ष शास्त्र ग्रन्थ में इन संसारी जीवों को मोक्ष प्राप्त हो उसका उपाय बताया गया है। मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र कहा गया है। सम्यग्दर्शन के स्वरूप में कहा गया था कि जीवादिक ७ तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, और वहाँ जीवादिक ७ तत्त्वों के नाम कहे गए—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष। उनमें सर्वप्रथम जीव तत्त्व का विवरण किया गया। प्रथम अध्याय में तो तत्त्व की जानकारी के उपाय बताये गए प्रमाण नय, निक्षेप आदिक। सो यद्यपि प्रमाण नय आदिक ये जीव के ही ज्ञान की लीलायें हैं, इस कारण उपायों में ही जीव का परिचय मिल गया था। और फिर दूसरे अध्याय में जीव के लक्षण आदिक के ढंग से जीव का परिचय कराया गया था। जीव का सामान्य परिचय पाने के बाद यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि यह जीव रहता कहाँ-कहाँ है। इस जिज्ञासा के समाधान में लोक का वर्णन शुरू किया गया था और उसमें सर्वप्रथम नारकी जीवों के आवास स्थान अधोलोक में बताये गये और उस प्रसंग से अधोलोक का वर्णन भी किया गया। नारकियों का परिचय देने के बाद फिर तिर्यञ्चका, तिर्यक् लोक का वर्णन किया गया, और उसमें भी मुख्य है मनुष्य लोक, उसका वर्णन हुआ। तिर्यन्च और मनुष्य इन दोनों का मुख्य आधार मध्यलोक है। सामान्यतया तिर्यन्च तो समस्त लोक में रहते हैं, याने एकेन्द्रिय सर्वत्र पाये जाते हैं फिर भी शेष एकेन्द्रिय सकल त्रय पञ्चेन्द्रिय, तिर्यन्च इनकी अपेक्षा तिर्यन्चों का मुख्य आवास मध्यलोक है, मध्यलोक का वर्णन हुआ, मनुष्यों के भेद-प्रभेद का वर्णन हुआ। अब यहाँ प्रसंग दिया है देवों का परिचय कराने का। देव कहां रहते हैं, उनके भवन बताना है तो यहाँ एकदम आवास न बताकर पहले कुछ देवों का परिचय कराया जा रहा है और उस परिचय के प्रारम्भ में प्रथम सूत्र कह रहे हैं।

देवाश्चतुर्णिकाया: ॥१॥

देवों के चार निकायों का निर्देश—देव चार निकाय वाले हैं अर्थात् देव चार भेदों में है। उनका निकाय (समूह) चार प्रकार का है। आयु, प्रकृति, आदि की समानता लेकर उन देवों के चार समूह कहे गए हैं। तो उन समूहों को निकाय कहते हैं। देव शब्द का अर्थ हैं जो क्रीड़ा करे, लीला करे, सांसारिक सुखों को भोगे, द्युतिमान हो, वह कहलाता है देव। देव शब्द दिव्यादिगणी दिवि धातु से बना है जिसका अर्थ है कि देवगति नामकर्म का उदय होने पर जो क्रीड़ा करें, सुख भोगें, द्युतिमान हों,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उन्हें देव कहते हैं। यहाँ देवा: शब्द बहुवचन में बताया गया है जिससे यह जाहिर होता हैं कि भले ही ये देव चार समूहों में हैं फिर भी प्रत्येक समूह बहुत प्रकार की विशेषतायें लिये हुये हैं और उनमें अन्तर्गत भेद विशेष होते हैं- इस तरह ये देव चार निकाय वाले हैं, ऐसा कहकर देवों की नाना विशेषतायें, यिचित्रतायें जाहिर की गई हैं। निकाय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि निचीयन्ते इति निकाया: जो अपने धर्म विशेष से उद्‌भूत होते हैं, सामर्थ्य से जो निचित हों, संचित हों उन्हें निकाय कहते हैं। यहाँ चतुर्णिकाया: शब्द में बहुब्रीहि समास है याने चार हैं निकाय जिनके वे चतुर्निकाया कहलाते हैं। देवों के चार ही निकाय क्यों होते हैं ? तो सभी विशेषताओं को एक मुख्य विशेषता में अन्तर्गत करके ये देव निकाय वाले चार प्रकार के ही कहे जायेंगे। वे चार निकाय हैं भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक, इन देवों के इस तरह के निकाय चार ही बन सकते हैं। १. २, ३ या ५ नहीं बन पाते।

चार निकायों में समस्त देवों का अन्तर्भाव—यहां कोई शंकाकार कहता है कि देवों के निकाय तो ८ भी कहे गये हैं, जिनका नाम है बाह्म, सौधर्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इस तरह के ८ निकाय कितने ही दार्शनिकों के यहां विशेष रूप से बताये गये हैं। समाधान यह है कि जिन आगमों में ८ प्रकार के निकाय बताये गये हैं उन आगमों में प्रमाणता नहीं है। इस विषय में वर्णन दार्शनिक ग्रन्थों में विशेष प्रकार से किया गया है कि जो वीतराग सर्वज्ञ देव की ध्वनि से प्रणीत किया गया हो वह ही आगम प्रमाणभूत है, और यह कैसे समझा जाए कि यह सत्य आप्त की परम्परा का उपदेश है तो यह समझा जा सकता है वाणी की निर्दोषता से, जिसमें युक्तियों से बाधा न आये वह वाणी निर्दोष है और ऐसी वाणी ही प्रमाणभूत है। दूसरी बात यह है कि निकाय समूह उस विधि से बनाना चाहिये कि जिसमें कोई देव छूटे नहीं और एक जाति के देवों का अलग-अलग भेद बनाया जाये नहीं। जो ८ प्रकार के देव कहे हैं अन्य लौकिक जनों ने उनमें यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच ये तो एक व्यंतर जाति में ही गर्भित हो जाते हैं ओर शेष भवनवासियों में गर्भित हो जाते। और ज्योतिषी देवों का इसमें नाम भी नहीं आया। स्वर्गवासी, कल्पवासी देव भी नहीं बताये गये तो, ये ८ प्रकार के इस प्रकार के निकाय बनाया जाना यह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदिक दोषों से रहित प्रक्रिया में नहीं है, इस कारण चार निकाय भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक ये ही समीचीन होते हैं।

नारकियों के सर्वप्रथम आवास बताने की तरह देवों का सर्वप्रथम आवास स्थान न बताने का कारण—अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जैसे नारकियों का परिचय देते समय सर्वप्रथम नारकियों के आवास स्थान अधोलोक की ७ भूमियों का वर्णन किया था इसी प्रकार यहां देवों का आधार स्थान पहले क्यों नहीं बताया जा रहा है ? समाधान यह है कि जैसे नारकी जीवों का आधार एक नियत अधोलोक है, मनुष्यों का आधार मानुषोत्तर पर्वत तक मध्य लोक है, उस प्रकार देवों का आधार कोई एक लोक में नियत नहीं है, याने प्रसिद्धि तो अर्द्धलोक की है, कुछ देवताओं का आवास स्थान अर्द्ध लोक में है, मगर समस्त देव अर्द्ध लोक में ही हों, अन्यत्र न हों ऐसा तो नहीं है। भवनवासी अघोलोक में रहते हैं, व्यन्तर भी रहते हैं और व्यन्तर कुछ तिर्यन्च लोक में भी रहते हैं, कुछ थोड़े ऊपर आकाश में रहते हैं। तो प्रतिनियत आधार न होने से प्रथम देवों का आधार स्थान नहीं बताया गया है और फिर देवों का सामान्य परिचय कराते हुए फिर आधार बताने में सुविधा आती है, इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कारण सर्वप्रथम देवों के परिचय में देवों के समूह की बात यहाँ बतायी गई है। इस सूत्र का अर्थ हुआ कि देव चार प्रकार के होते हैं भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। अब इन निकायों में क्रमशः पृथक्-पृथक् निकायों की विशेषतायें बताने के लिये सूत्र कहा जायेगा, जिसमें सर्वप्रथम बतला रहे हैं कि उनके लेश्या परिणाम किस प्रकार के होते हैं ?

आदितस्त्रिषु पीतान्त लेश्याः ॥२॥

भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिष्क देवों में लेश्याओं का निरूपण—आदि से लेकर तीन निकायों में पीतपर्यन्त लेश्यायें होती हैं अर्थात् भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायों में जितने देव हैं वे पीतपर्यन्त लेश्या वाले हैं। ऊपर चार निकाय के देव बताकर एकदम यहाँ लेश्याओं का कथन करना केवल संक्षेप बनाने के लिए है। देवों में कहाँ लेश्यायें होती हैं ? इसका प्रसंग इसी अध्याय में कुछ सूत्रों बाद आयेगा, किन्तु यहां न कहकर यदि वहां की लेश्याओं को प्रकरण में यह जिक्र किया जाता तो तीन निकायों में बताने के कारण सूत्र वहां लम्बा कहना पड़ता है। यहां तो कुछ अनुवृत्ति से, कुछ प्रसंग होने से सूत्र संक्षेप में बन गया है। इस सूत्र में पीतांतलेश्या यह पद बहुव्रीहि समास में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् पीत पर्यन्त है लेश्या जिसके ऐसे वे देव हैं।

पूर्व सूत्र से देव और निकाय शब्द की अनुवृत्ति और सूत्रार्थ की सम्पन्नता—इस सूत्र में देव शब्द की अनुवृत्ति आती है। इससे प्रथम सूत्र में देव शब्द कहने की आवश्यकता नहीं है, और त्रिषु का अर्थ है तीन निकायों में। तो निकाय प्रथम सूत्र में आया है, वहाँ से निकाय की अनुवृत्ति हो जाती है। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि प्रथम सूत्र में जो निकाय शब्द लिया है वह इन दो शब्दों से मिलकर बहुव्रीहि समास में आया है, चतुर्णिकायाः अर्थात् चार है, निकाय जिसके, ऐसे हैं। तो एक जब पद है तो उस पद में से एक शब्द को तोड़कर यहां अनुवृत्ति कैसे लग गई है ? अगर इसका समाधान कोई यह दे कि हम चतुर्णिकायाः शब्द का समास बहुव्रीहि नहीं करते और कर्मधारय समास कर लेंगे याने चार निकाय—चत्वारास्ते निकायाः और इस तरह समास बन जायेगा, यों दोनों में हो गया सामान्याधिकरण्य और इस तरह अनुवृत्ति लेने की बात बन जायेगी। इन दोनों शंकाओं के समाधान में यह समझना कि चाहे स्वपदार्थ वाला समास करें चाहे अन्य पदार्थ वाला समास करें, दोनों ही प्रकार के समासों में निकाय शब्द की अनुवृत्ति हो सकती है और वहां के चतुर्निकायाः पद में से चत्वारः की अनुवृत्ति छूट जायेगी। शंकाकार के मन में यह शंका आई थी कि जब चतुर्निकायाः एक पद है तो अनुवृत्ति आयेगी तो उस पूरे पद की आयेगी सो बात नहीं है। कारण यह है कि जब इस द्वितीय सूत्र में त्रिषु शब्द लिख दिया है तो तीनों ही निकाय आ गये क्योंकि जिनकी संख्या की जा रही उनके बिना संख्या सम्भव नहीं होती, इसलिये तीन निकाय का यहां अर्थ होगा और उनमें ये पीत पर्यन्त लेश्यायें होती हैं यह बात घटित हो जायेगी। अब देवाः शब्द की जो अनुवृत्ति की गई है उसमें तो किसी भी प्रकार की शंका नहीं है क्योंकि पीतांतलेश्याः यह भी समास होने के बाद प्रथमा विभक्ति में है, ओर देवाः शब्द भी प्रथमा विभक्ति में है। और निकाय और निकायी इनमें कथंचित् अभेद है इसलिये देवाः शब्द भी यहां घटित हो जाना बिल्कुल ही संगत है।

सूत्रोक्त शब्दों की सार्थकता—अब यहां कोई शंका करता है कि इस सूत्र को यदि इतना ही बना दिया जाये कि त्रिनिकायाः पीतांत लेश्याः याने तीन निकाय वाले देव पीत पर्यन्त लेश्या वाले होते हैं तो इसमें एक वर्ण की कमी भी हो जाती सूत्र का संक्षेप हो जाता। तो इसका उत्तर देते हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कि जो सूत्र कहा गया है वह तो संदेह रहित है, किन्तु शंकाकार जो सूत्र उपस्थित कर रहा है उसमें शंका और इष्ट का विपर्यय भी हो सकता है। तीन निकाय वाले देव कहने से तीन निकाय तो लिया है। अन्त के तीन तो लिये गये गये तो वह विरूद्ध बात हो जायेगी, अतएव "आदितस्त्रिषु" कहना सही है अर्थात् पहले के तीन निकाय—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी, उनमें चार लेश्यायें होती हैं, एक अक्षर बढ़ा फिर भी सूत्र संक्षिप्त ही रहा। जो अर्थ बताना था उसके मुकाबले तो संक्षेप ही रहा। यहाँ आदित: शब्द देना बहुत आवश्यक है, क्योंकि आदित: शब्द न दिया जाये तो उल्टा भी अर्थ हो सकता है, याने अन्त में जो तीन निकाय हैं उनका अर्थ हो जाता है इसलिए आदित शब्द देना संगत है। त्रिषु शब्द कहना भी संगत है अन्यथा क्या पता होता कि दो निकायों में बता रहे हैं या एक में। उस संदेह को दूर करने के लिए त्रिषु शब्द देना बहुत आवश्यक हो गया। ४ का संदेह तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि आदित: शब्द दिया हुआ है अर्थात् शुरू से लेकर। अगर चार ही निकायों में ये लेश्यायें बतानी होतीं तो आदित: शब्द क्यों दिया जाता और त्रिषु शब्द भी क्यों दिया जाता? बता दिया जाता कि पीत पर्यन्त लेश्या वाले हैं। कुछ तो ऊपर के सूत्र से सभी देवों की अनुवृत्ति हो जाती है। कोई यह भी शंका कर सकता कि ऐसा सूत्र बना दिया जाता कि आद्येषु पीतांतलेश्या: ऐसा सूत्र बना दिया जाता तो इसमें बहुत शब्द कम हो जाते हैं, यहां यह शंका युक्त नहीं है। इसमें तो कुछ अर्थ होना विदित नहीं होता और बल्कि उल्टा अर्थ लग जाना, आद्यषु का अर्थ होता, अर्थात् आदि के निकाय में रहने वाले देवों में ये लेश्यायें हैं तो केवल भवनवासी ही यहां ग्रहण में आते। तो संदेह दूर करने के लिये यह आदितस्त्रिषु शब्द दिया है। अब पीतांतलेश्या: शब्द का जो पीतांत शब्द हैं वह लेश्याओं का नियम बताने के लिये दिया है। उसमें लेश्याओं के नामों का पाठ इस प्रकार दिया गया है सिद्धान्त शास्त्रों में कि कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। तो पीतांत शब्द देने से कृष्ण से लेकर पीत पर्यन्त सब लेश्यायें आ जाती हैं और पद्म और शुक्ल ये दो लेश्यायें यहाँ नहीं आ पातीं। अब प्रसंग न होने पर भी सूत्र का लाघव भी दृष्टि में रखकर तीन निकायों में लेश्याओं का वर्णन करके अब पुन: प्रथम सूत्र से सम्बन्धित बात चलती है। प्रथम सूत्र में जो बहुवचन शब्द दिया है, देवा:, उस बहुवचन से यह सिद्ध होता है कि देवों के बारे में बहुत कुछ वर्णन करना शेष हैं, उनके और भी कई-कई प्रकार हैं, एक-एक निकाय में अनेक प्रकार भी पाये जाते हैं तो उन प्रकारों का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं।

दशाष्टपञ्चद्वादश भेदा: कल्पोपपन्नपर्यन्ता: ॥३॥

चार निकायों में प्रभेद की गणना—कल्पोपपन्न पर्यन्त देव १०, ८, ५ और १२ भेद वाले होते हैं अर्थात् भवनवासी १० भेद वाले हैं व्यन्तर ८ भेद वाले हैं, ज्योतिषी ५ भेद वाले हैं और कल्पोपपन्न पर्यन्त याने स्वर्ग तक के वैमानिक देव १२ भेद वाले हैं। ये जो भेद किए गए हैं इनकी अपेक्षा इस प्रकार है। भवनवासियों के १० भेद इन्द्रों की अपेक्षा से हैं, अथवा उनकी जातियां जुदी-जुदी हैं, उनकी प्रक्रिया, उनकी आयु उनका शौक ये सब जुदे-जुदे पाये जाते हैं, इस कारण से भी उनके १० भेद हो जाते हैं, वे आगे बताये जायेंगे, जैसे असुरकुमार आदिक। व्यन्तरों के जो ८ भेद कहे गए हैं वे भी भिन्न-भिन्न जाति के भिन्न-भिन्न रुचि वाले, कौतूहल वाले जो व्यन्तर हैं उनकी कक्षा कर दी गई है, उसके ८ भेद हो जाते हैं ज्योतिषियों के ५ भेद उनके निकायों और सदृशताओं विभिन्नताओं को निरखकर किया गया है। ये सब भेद आगे आयेंगे। कल्पोपपन्न पर्यन्त अर्थात् १६ स्वर्गों के जो

http://sahjanandvarnishastra.org/

१२ भेद किए गए हैं, वे इन्द्रों की अपेक्षा से किये गये हैं। इस तरह चार निकायों में कल्पोपपन्न पर्यन्त तक के ये भेद हैं। कल्पोपपन्न का अर्थ केवल स्वर्ग के देवों में लगाना है। यद्यपि इन्द्र सामानिक आदिक कल्पनायें सभी निकायों में हैं फिर भी रुढ़िवश कल्पोपपन्न वैमानिक देवों में बनाये गये हैं। दूसरी बात यह है कि वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत, सो जहाँ कल्पातीत होते हैं उनमें भी ही कल्पोपपन्न की बात कहना संगत है। पहले के तीन निकायों में कल्पातीत नहीं हैं इसलिए उनमें इन्द्रादिक कल्प, होने पर भी कल्पोपपन्न संज्ञा नहीं होती। अब जिन कल्पनाओं से कल्पोपपन्न कहा जाता है उन कल्पनाओं का विवरण करते हैं।

इन्द्रसामानिक त्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषकाश्चैकशः ॥४॥

देव गति में संभव इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश, पारिषद: आत्मरक्ष व लोकपाल के लक्षण—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक ये १० प्रकार के पद निकायों में पाये जाते हैं। इन्द्र किसे कहते हैं? जो इन्दन करे सो इन्द्र अर्थात् जो परम ऐश्वर्य सहित हो उसे इन्द्र कहते हैं। जैसे जो ऋद्धियां अन्य देवों में न पायी जा सकें और जो महिमा, महत्त्व अन्य देवों में न हो ऐसे विशेष परम गुण इन्द्र में हुआ करते हैं। इन्द्र की आज्ञा उनसे सम्बन्धित सभी देव मानते हैं। सामानिक किसे कहते हैं? जो अन्य-अन्य बातों में तो इन्द्र के समान हों किन्तु आज्ञा, और ऐश्वर्य न पाया जाये उन्हें सामानिक कहते हैं। सामानिक का पद इन्द्र के स्थान के बराबर तो नहीं है मगर बाहरी सुख, आयु, शक्ति, परिवार, भोगोपभाग ये इन्द्र के समान होते हैं, सामानिक शब्द की व्युत्पत्ति है—समानेभवाः सामानिकाः इन्द्र की समानता में होने वाले देवों की सामानिक कहते हैं। त्रायस्त्रिंश किन्हें कहते हैं? जो त्रयस् त्रिंसत (३३) में होते हों उन्हें त्रायस्त्रिंस कहते हैं। ये महान् माने जाते हैं। उनका सभी देव आदर करते हैं। ये दादा, बाबा, पिता, गुरू, उपाध्याय के समान होते हैं। अथवा कहो मन्त्री, पुरोहित के स्थान पर याने इनकी तरह आदर के योग्य माने जाते हैं। त्रायस्त्रिंश की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी हो सकती है। त्रयस्त्रिंसत् देव ही त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। परिषद् किन्हें कहते हैं? जो परिषद् में हों उन्हें पारिषद् कहते हैं। इन्द्र के तीन प्रकार की परिषद् (सभायें) होती हैं—(१) अन्तरंग परिषद्, (२) मध्यम परिषद् और (३) बाह्य परिषद्। उन परिषदों में सदस्य के तुल्य जो देव हैं उन्हें पारिषद कहते हैं। अथवा ये मित्र, दोस्त, वयस्क की तरह समझे जाते हैं। आत्मरक्ष किसे कहते हैं? जो अपने की (इन्द्र की) रक्षा करें सो आत्मरक्ष अंग रक्षक की तरह हैं ये। यद्यपि इन्द्र को आवश्यक नहीं है कि कोई उनकी रक्षा करे, उन पर कोई उपद्रव नहीं आता, किन्तु पुण्य की ऐसी महिमा है कि ये सब ठाठ शामिल हो जाते हैं। लोकपाल किसे कहते हैं। लोकपाल किसे कहते हैं? जो लोक का पालन करे वह लोकपाल है। ये लोकपाल कोतवाल आदिक की तरह हैं। ये इतने पवित्र भाव के होते हैं न्यायप्रिय होते हैं, करुणावान होते हैं कि इन्द्र की तरह ये भी एक भवावतारी होते हैं।

देवगति में संभव अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक पदों के लक्षण—अनीक किसे कहते हैं? जो सेना की तरह याने सेना के कार्य के तरह विभूति में शामिल हों वह अनीक कहलाता है। ये ७ सेनायें होती हैं गंधर्व आदिक। जैसे यहाँ कोई पैदल सेना, कोई हाथी पर सवार सेना, कोई घुड़सवार सेना, इसी प्रकार वहाँ भी इनकी तरह सेना होती है और एक सेना है चित्त को प्रसन्न करने वाली गंधर्व सेना। गायन, नृत्य आदि की वृत्ति रखने वाले। प्रकीर्णक किसे कहते हैं? जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

प्रकीर्ण हों, फैले हुए हों, जैसे कि राजाओं के पुरवासी प्रीति के हेतु भूत, जनता जिसे कहते हैं, उनकी तरह प्रकीर्णक देव होते हैं। आभियोग्य देव किसे कहते हैं ? जो सेवा आदि भावों से इन्द्रादिक महान देवों के अभिमुख रूप से जो जुड़ते हैं, जिनका योग होता है, उन्हें आभियोग्य कहते हैं ? आभियोग्य की उत्पत्ति इस प्रकार है। अभिमुखेन योगः अभियोगः। अभियोगे भवा आभियोग्याः अर्थात वाहन आदिक बनकर बड़े देवों की अभिमुखता से जो जुड़े, आयें, सेवा करें उन्हें आभियोग कहते हैं। किल्व-षिक किसे कहते हैं ? किल्विष नाम पाप का है। पाप जिनके हैं उन्हें किल्विष कहते हैं, अर्थात इन १० भेदों वाले देवों में सर्वाधिक अथवा कहो अन्य में इतना कोई पाप नहीं जैसा कि पाप इन किल्विषिक देवों के पाया जाता है। जैसे मनुष्यों में जो चांडाल आदिक हैं वे लोगों की निगाह में ऊँचा स्थान नहीं पाते और नगर के अन्त में एक तो इनका आवास बनता है ऐसे ही अन्तेवासियों की तरह इनका स्थान रहता है। इस प्रकार प्रत्येक निकायों में ये १० प्रकार की कल्पनाएं चलती हैं। वैमानिक निकाय में केवल स्वर्गों में ही ये कल्पनाएं चलती हैं क्योंकि ऊपर के सूत्र में कल्पोपपन्न शब्द देकर यह जाहिर किया गया था कि १२ भेद कल्पोपपन्न वैमानिकों में ही होते हैं। इस प्रकार जो १० तरह की कल्पनायें हैं उसके कारण उस उस प्रकार का एक पुण्य विशेष का उदय है। यद्यपि देवगति नामक पुण्य कर्म के उदय से इन सबका ही नाम देव हैं और उसके कारण जो सुख सुविधा होनी चाहिये वह सबमें है फिर भी देवगति के और जो विशेष भेद हैं भवनवासी नाम कर्मादिक जो पुण्य के उदय हैं उनसे वे उस प्रकार निकाय होते हैं और उनमें भी इन्द्रादिक नामक पुण्य कर्म के विशेष से इन्द्रा-दिक होते हैं। कर्म केवल ८ ही नहीं हैं। उनके उत्तर भेद १४८ हैं और उतने ही नहीं, प्रत्येक उत्तर प्रकृति में अनेक प्रकार के प्रभेद पाये जाते हैं तो जितनी भी विषमता जीवों में पायी जाती हैं उतनी प्रकार की प्रकृतियाँ हुआ करती हैं इस प्रकार पुण्य के तारतम्य से ये निकाय हुये और ये १० प्रकार की कल्पनायें हुई। अब इस सूत्र में सभी निकायों में १० तरह की कल्पनायें कही गई किंतु व्यन्तर और ज्योतिषियों में १० प्रकार की कल्पनायें न होकर ८ ही हुआ करती हैं। तो वह अपवाद बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तज्योतिष्का: ॥५॥

व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में विकल्पित पदों का कथन—त्रायस्त्रिश और लोकपाल को छोड़कर शेष कल्पना वाले व्यन्तर और ज्योतिषी देव होते हैं। ऊपर के सूत्र में एक सामान्य रूप से इन्द्रादिक १० विकल्पों का वर्णन किया था। उस वर्णन से चारों ही निकायों में दसों कल्पनाओं का प्रसंग आता है। लेकिन व्यन्तर और ज्योतिषी इन दो निकायों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं हुआ करते। तो यह एक अपवाद सूत्र है, ऐसा अपवाद सूत्र बनाना और पहले सामान्यतया कथन करना जिससे कि अपवाद सूत्र बनाना पड़े। ऐसा क्यों किया गया है ? सूत्रों को संक्षिप्त बनाने की यह ही विधि है। अन्य प्रकार वर्णन करने से सूत्रों का विस्तार बन जाता है। व्यन्तर और ज्योतिषियों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल क्यों नहीं होते कि वहाँ त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नामक पुण्य विशेष सम्भव नहीं है, क्योंकि उस उस प्रकार का अतिशय विशेष इन दो निकायों में नहीं पाया जाता है।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

भवनवासी निकाय में प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्रों का निर्देशन—पूर्व के दो निकायों में अर्थात भवनवासी और व्यन्तर में जो देव हैं वे दो-दो इन्द्र वाले हैं अर्थात भवनवासी के १० पद बताये गये

http://sahjanandvarnishastra.org/

थे, उनमें प्रत्येक में दो-दो इन्द्र पाये जाते हैं। व्यन्तरों में ८ भेद बताये गये थे उनमें प्रत्येक में दो-दो इन्द्र पाये जाते हैं। अन्य निकायों की तरह कोई इन्द्र दो नहीं होते हैं। इस सूत्र में पूर्वयोः शब्द में द्विवचन दिया गया है, जिससे पहले के दो निकाय ही ग्रहण में आते हैं। यद्यपि चौथे की अपेक्षा तीसरा पूर्व है। तीसरे की अपेक्षा दूसरा पूर्व है, लेकिन यहाँ द्विवचन है अतः पहले के दो, आदि के दो, यह अर्थ यहाँ प्राप्त हो गया। इनके भेदों में दो दो इन्द्र पाये जाते हैं। इससे यह जाहिर होता है कि भवनवासी और व्यन्तर इन दो जाति के निकायों में पुण्य विशेष नहीं है जहाँ नेता दो पुरुष हो जायें, दो चला वाले मालिक बन जायें वहाँ प्रभुता न समझना चाहिए। जैसे कि लोक में भी यदि बहुत नायक हो जायें, बहुत मालिक बन जायें तो वहाँ फिर प्रभुता नहीं रहती है ऐसे ही यहां जानना कि जब एक एक जाति के भवनवासी में दो-दो इन्द्र हैं तो प्रभुता विशेष न कहलायगी। अब इन भवनवासियों में १० भेद कौन से हैं, यह बात अगले सूत्र में आयगी, फिर भी प्रसंगवश यहाँ बतलाते हैं कि किस जाति में कौन से दो इन्द्र हुआ करते हैं? तो भवनवासी निकाय में असुर कुमार जाति के देवों में दो इन्द्र होते हैं जिनका नाम है चमर और वैरोचन। भवनवासी के निकाय में जो द्वितीय भेद है नाग कुमार उन देवों में दो इन्द्र होते हैं, जिनका नाम है धरण और भूतानन्द। विद्युत्कुमार जाति के देवों में हरिसिंह और हरिकांत ऐसे दो इन्द्र होते हैं। सुपर्ण कुमार जाति के देवों के वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र होते हैं। अग्नि कुमार जाति के भवनवासियों के अग्नि शिखा और और अग्नि माणव ये दो इन्द्र होते हैं। वातकुमार जाति के भवनवासियों में प्रलम्बन और प्रभंजन ये दो इन्द्र होते हैं स्तनित कुमार जाति के भवनवासी देवों में सुघोष और महाघोष, ये दो इन्द्र होते हैं। उदधि कुमार जाति के भवनवासियों में जलकांत और जलप्रभ ये दो इन्द्र होते हैं। द्वीपकुमार जाति के भवनवासियों में पूर्ण और वशिष्ट ये दो इन्द्र होते हैं। दिग्कुमार जाति के इन्द्रों में अमितगति और अमित वाहन ये दो इन्द्र होते हैं। भवनवासियों के ये १० भेद कहे गये। उनके नाम पर भी यह अंदाज किया जा सकता है कि इन देवों का सम्बन्ध उस उस लीला में हुआ करता है। जैसे दिग्कुमार जाति के देव याने दिशाओं पर इनका नाम रखा है। तो इनका कौतूहल और शौक दिशाओं में तेज गमन करना, दिशावों से सम्बन्धित लीला इनको होती है। जैसे स्तनित कुमार, जिसका दूसरा नाम है मेघ कुमार। इसमें इन्द्र हैं सुघोष और महाघोष। इनको लीला मेघ सम्बन्धित होती है, ऐसे ये सब कुमारों की तरह याने बालकों की तरह इनका रूप और उस तरह की वेशभूषा शौक में रहना, यह जाति कुमार शब्द से प्रसिद्ध है।

व्यन्तरनिकाय के प्रत्येक भेदों में दो दो इन्द्रों का निर्देशन—अब दूसरा निकाय है व्यन्तर निकाय। उनमें आठ भेद हुआ करते हैं। प्रत्येक जाति में दो दो इन्द्र होते हैं। किन्नर नाम के व्यन्तरों में किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र होते हैं। किन्नर शब्द का अर्थ है खोटे मिजाज वाले मनुष्य किंपुरुष है खोटी प्रकृति वाले पुरुष। इन शब्दों से यह अनुमान किया जा सकता है कि देवों की प्रकृति क्या, शौक क्या, इनकी लीला किस प्रकार है? किंपुरुष नामक व्यन्तरों में दो इन्द्र हैं। सत्पुरुष और महापुरुष। महोरघग जाति के व्यन्तरों में अतिकाय और महाकाय नाम के दो इन्द्र हैं। गंधर्व जाति के व्यन्तरों में गीतरति और गीतयश नाम के दो इन्द्र हैं। इन गंधर्व जाति के देवों के कुछ गायन का शौक रहा करता है और उनके इन्द्र भी गायन में रति रखते, गायन से उनका यश माना जाता। यक्ष जाति के व्यन्तरों में पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के दो इन्द्र हैं। राक्षस जाति के

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

व्यन्तरों में भीम और महाभीम ये दो इन्द्र होते हैं। पिशाच जाति के व्यन्तरों में काल और महाकाल ये दो इन्द्र होते हैं, भूत जाति के व्यन्तरों में प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इन्द्र होते हैं। इस प्रकार इस जाति के देवों में एक-एक प्रभु तो है नहीं। इससे सिद्ध है कि वे अल्प पुण्य वाले इन्द्र हैं।

काय प्रवीचारा आऐशानात् ॥७॥

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क सौधर्म स्वर्ग, ऐशान स्वर्ग के देवों में प्रवीचार का वर्णन—अब इन देवों में कामवासना विषयक विवरण बताने के लिए कुछ सूत्र कहेंगे, जिसमें प्रथम सूत्र है कि ऐशान स्वर्ग पर्यन्त तक के देव कायप्रवीचार वाले होते हैं अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, सौधर्म, स्वर्ग और ऐशान स्वर्ग, इनमें रहने वाले देव मनुष्यों की भाँति कायप्रवीचार वाले हैं। काय नाम है शरीर का और प्रवीचार नाम है प्रविचरण अर्थात् मैथुन उपसेवन। प्रवीचार शब्द में प्र और वि—ये दो तो उपसर्ग हैं और चर धातु से कृत् प्रत्यय होकर वि—में रहने वाली इ को दीर्घकर प्रवीचार शब्द बनता है। आगे शब्द दिया है ऐशान। यहाँ कोई ऐसी शंका कर सकता है कि इसमें भी संधि कर दी जाये तो अ-अलग न कहना पड़ेगा, ऐशानात् इतना ही शब्द हो जायेगा, क्योंकि अ और ऐ मिलकर वृद्धि हो सकती है। समाधान इसका यह है कि प्रथम तो व्याकरण में अ शब्द के बाद रहने वाले स्वर से संधि का विकल्प है इसलिये संधि नहीं हुई। दूसरी बात यह है कि केवल ऐशानात् शब्द रहने पर उससे प्रकृत अर्थ स्पष्ट नहीं होता। कोई ऐसा ही समझते कि ऐशान दिशा तक कायप्रवीचार होता है। ऐशान दिशा का भी नाम है और संधि न करने से अ लिखा जाने से स्पष्ट अर्थ हो जाता है कि ऐशान स्वर्ग तक के देवों तक कायप्रवीचार होता है। यहाँ अ शब्द सीमा को बता रहा कि ऐशान तक के देव कायप्रवीचार होते हैं। इस सूत्र में अ ऐशानात् ऐसा सीमावाचक शब्द लिखने से यह भाव ध्वनित होता है कि केवल इस सूत्र में यह ही नहीं बताना है कि वैमानिक जाति के निकायों में समस्त देवों में कायप्रवीचार का प्रसंग आता। उसकी निवृत्ति के लिए अऐशानात् शब्द दिया। इतना ही नहीं, यह तो है ही। अर्थात् स्वर्ग के सब देवों मे कायप्रवीचार नहीं होता, लेकिन इसके साथ यह भी समझना कि सूत्र में अ ऐशानात् शब्द देने से चारों ही निकायों में सुख का अन्तर विदित होता है। वैसे तो ऊपर-ऊपर के स्वर्ग वाले देव नीचे के स्वर्ग वाले देवों से अधिक सुखी कहे गये हैं, यही बात यहाँ भी स्पष्ट होती कि ऊपर स्वर्ग के देव कोई स्पर्श मात्र से तृप्त होते, कोई रूप देखकर तृप्त होते, कोई मन से विचार कर ही तृप्त होते, शरीर से प्रवीचार नहीं करते। इससे यह सिद्ध है कि जहाँ-जहां कायप्रवीचार हैं और इस तरह उपसेवन है वहाँ दुःख विशेष है। तो यहां भी यह अऐशानात् शब्द देने से ध्वनित होता है।

शेषाः स्पर्श शब्दरूपमनः प्रवीचाराः ॥८॥

प्रथम कल्प से ऊपर के स्वर्गों के देवों में प्रवीचार का तारतम्य—शेष के देव स्पर्श प्रवीचार रूप प्रवीचार शब्द प्रवीचार और मनः प्रवीचार वाले हैं। शेष में ये सभी वैमानिक न लेना किन्तु कल्पोपन्न का प्रकरण है तो १६ सोलह स्वर्ग तक के देव ही यहाँ शेष शब्द से लेना है, और, आगे सूत्र कहा जायेगा कि १६ स्वर्गों से ऊपर के देव याने ग्रैवयक अनुदिश अनुत्तर विमानों में रहने वाले देव प्रवीचार रहित हैं, उससे भी यह ध्वनित है कि यह ८ वाँ सूत्र १६ स्वर्ग तक के शेष के देवों के लिए कहा गया है। तो सनत् कुमार नामक तीसरे स्वर्ग के देवों से लेकर कल्पोपपन्न तक मायने १६वें स्वर्ग तक के देव इन-इन प्रकारों से प्रवीचार वाले हैं। अब शेष के कहने से तीसरे स्वर्ग से लेकर १६वें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वर्ग तक के देव आये। अब उनमें भी यह विभाग जानना चाहिए कि किस स्वर्ग के देव किस प्रकार के प्रवीचार में हैं, कौन से किस प्रकार हैं। तो यह बात आगम के अनुसार समझना और उससे ही अनुमान करना कि जैसे-जैसे ऊपर के देव सुखी कहे गये हैं, तो उनका यह अनुमान हुआ कि ऊपर पाप का तारतम्य है अर्थात् कम-कम पाप का उदय है। चारित्र मोह विषय इच्छा ये तो सब पाप की ही चीजें हैं। तो ऊपर-ऊपर के देव कम-कम पाप वाले हैं। काम का उदय पाप ही तो कहलाता। तो चारित्र मोह की दृष्टि से ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देव स्वयं ही प्रकृत्या अल्प पाप और विशेष सुख वाले होते हैं।

तृतीय स्वर्ग से लेकर १६वें स्वर्ग तक के देवों में प्रवीचार प्रक्रिया का विवरण—अब उनमें कौन-कौन से प्रवीचार हैं उस विषय में शेष के १४ स्वर्गों की बात कह रहे हैं। तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव स्पर्श प्रवीचार वाले हैं। उन देवों को विषय सुख की इच्छा हुई कि यहाँ उपस्थित अपनी देवी के शरीर का स्पर्श किया और इतने मात्र से उनकी इच्छा दूर होती है अतएव वे स्पर्श प्रवीचार वाले कहलाते हैं। ५वें, ६ठें, ७वें ८वें स्वर्ग के देव रूप प्रवीचार वाले हैं। ये देव अपनी देवी के मनोज्ञ रूप के देखने मात्र से इच्छा रहित हो जाते और उनमें अतिशय प्रीति उत्पन्न हो जाती, अतएव वे रूप प्रवीचार वाले हैं। ९वें, १०वें, ११वें, १२वें स्वर्ग के देव शब्द प्रवीचार वाले हैं, अपनी देवी के मनोज्ञ शब्दों के श्रवण मात्र से ही सन्तोष उत्पन्न होता है अतएव वे शब्द प्रवीचार वाले हैं। १३वें, १४वें, १५वें, १६वें स्वर्ग के देव मन: प्रवीचार वाले हैं, अपनी देवियों का मन से चिन्तन ही किया, इतने मात्र से ही उन्हें सुख का अनुभव हो जाता है। इस प्रकार इन देवों में उत्तरोत्तर इच्छा, विषय, तृष्णा कम-कम पायी जाती है, जिसके कारण ये पहले-पहले के स्वर्गों से ऊपर-ऊपर के स्वर्ग वाले देव अधिक सुखी कहे जाते हैं।

परेऽप्रवीचारा: ॥९॥

कल्पातीत अर्थात् अहमिन्द्रों की अप्रवीचारता—ऊपर के देव प्रवीचार रहित होते हैं, परे शब्द से कल्पातीत समस्त देवों का ग्रहण करना है अर्थात् स्वर्गों से ऊपर के जो और स्थान हैं वैमानिकों के जैसे बैकुण्ठ याने ग्रैवयक तथा अनुदिश और अनुत्तर इनमें रहने वाले देव अहमिन्द्र कहलाते हैं। इनके देवियाँ नहीं होतीं। ये प्रवीचार रहित हैं, एक स्वर्ग से भी अधिक सुखमय इनका जीवन व्यतीत होता है। ये सब अप्रवीचार हैं। अप्रवीचारपना होने से इनको अधिक सुख है, यह विज्ञात होता है। ये मन: प्रवीचार वाले भी नहीं हैं। मन में विशेष इच्छा हुई कि वह एक राग है, दु:ख है, इससे परे यह कल्पातीत समस्त देव प्रवीचार रहित हैं। यहां कोई ऐसी आशंका करता है कि हम तो यह ही मानेंगे कि जितने भी देव हैं वे सब कामवेदना के वशीभूत हैं क्योंकि शरीर सहित हैं। जैसे यहाँ प्रसिद्ध कामी पुरुष शरीर सहित है तो कामवेदना से भी आक्रान्त है। इसके समाधान में कहते हैं कि कामवेदना का पाप और शरीर का मिलना इन दोनों में नियम नहीं है कि जिन-जिनके शरीर हों, उन-उनके कामवेदना का पाप हो ही हो। यहां भी तो अनेक मनुष्य ऐसे देखे जाते हैं कि कोई काम विकार वाले हैं, कोई मंद, कोई अत्यन्त मंद काम विकार वाले हैं, और ऐसा भी नहीं है कि काम वेदना न हो तो शरीर में हानि हो जाये। और जिसके समस्त पाप दूर हो गये हैं ऐसे अरहंत के भी तो शरीर है, वह तो निष्काम हैं। तो कामोपना सिद्ध करने के लिये शरीर हेतु देना असंगत है। इसी तरह कोई कहे कि सभी देव कामवेदना के वश हैं क्योंकि वे हैं प्रमेय हैं आदिक हेतु भी सब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनुचित है। यह हेतु कामवेदना को सिद्ध करने में समर्थ नहीं और जिन-जिन देवों को अतिशय सुख होता है वे प्रवीचार रहित होते हैं तब ही शान्त सुखी धीर सन्तुष्ट हुआ करते हैं।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम ९ सूत्रों में अन्य योगव्यवच्छद का दिग्दर्शन—यहाँ तक ९ सूत्रों के द्वारा प्रसंग में कही गई बातों से भिन्न बातों का निराकरण किया गया समझना चाहिये। जैसे पहला सूत्र कहा कि देव चार निकाय वाले हैं। वहाँ यह व्यवच्छेद करना कि न तीन निकाय वाले हैं, न ५ आदि निकाय वाले हैं। द्वितीय सूत्र में कहा कि आदि से लेकर तीन निकायों में पीत पर्यन्त लेश्या है, उसका यह अन्य योग व्यवच्छेद करना कि यहाँ अन्य लेश्यायें नहीं पायी जातीं। तीसरे सूत्र में बताया है कि कल्पोपपन्न तक १०,—८,—५,—१२ भेद वाले देव हैं। तो इससे अन्य संख्या का निषेध हो जाता। चतुर्थ सूत्र ने १० प्रकार की कल्पनायें बतायी हैं। उससे यह निराकृत होता है कि वहाँ अन्य कल्प नहीं है। ५वें सूत्र में व्यन्तर और ज्योतिषियों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं हैं। ऐसा अपवाद बताया है, उससे यह अर्थ लेना कि इसके अतिरिक्त और अपवाद नहीं है। छठे सूत्र में इन्द्रों की संख्यायें बतायी हैं। उससे यह प्रसिद्ध करना कि अन्य प्रकार से इन्द्र संख्यायें नहीं हैं। ७वें और ८वें सूत्र में प्रवीचार के प्रकार बताये गये हैं, उनसे यह समझना कि वहाँ और प्रकार के अनिष्ट प्रवीचार नहीं हैं। ९वें सूत्र में कल्पातीतों को प्रवीचार रहित कहा है, उससे यह जानना कि इनमें प्रवीचार का अंश भी नहीं है। इस प्रकार चार निकाय के देवों का ऐसा सामान्यतया वर्णन किया। अब उनके भेद विशेष का वर्णन करेंगे।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक् कुमाराः ॥१०॥

भवनवासी देव १० प्रकार के होते हैं वे दस प्रकार इस सूत्र में कहे गये हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिग्कुमार। भवनवासी शब्द का व्युत्पत्य, अर्थ यह है कि भवनों में बसें, इस प्रकार के जो देव हैं—वे भवनवासी कहलाते हैं। भवनवासी यह प्रथम निकाय की सामान्य संज्ञा है। यद्यपि व्यन्तर भी भवनों में रहते हैं तो भी कुछ व्यन्तरों के आवास तिर्यक् लोक में द्वीप तट जीर्ण महल हैं व आकाश में भी कहीं बसा करते हैं, इस कारण भवनवासी शब्द की रूढ़ि व्यन्तरों में न कहकर प्रथम निकाय के देवों में ही प्रसिद्ध है। ये १० प्रकार के होते हैं जिनमें प्रथम प्रकार है असुरकुमार। देवगति नामकर्म का उदय सबके सामान्यतया है और उनमें भी भवनवासी नामकर्म का उदय प्रथम निकाय में है और इसके असुरकुमार नामकर्म का उदय है, असुर शब्द का अर्थ तो यद्यपि शब्द में यह है कि युद्ध में देवों के साथ जो प्रहार करे तो असुर, लेकिन यह घटना सत्य नहीं है, क्योंकि देव, सौधर्म इन्द्र ये भी बड़े वैभवशाली देव हैं, यहाँ युद्ध की बात है क्या ? दूसरा कोई बैर का कारण नहीं है। वैक्रियक शरीर वाले हैं। लेकिन ये देव प्रायः नरक भूमि में जाकर नारकियों को भिड़ाते हैं, उस कौतूहल से सन्तुष्ट होतें हैं, इस कारण इनका असुर नाम प्रसिद्ध हुआ है। ये सभी कुमार एक समान अवस्था के स्वभाव वाले हैं। कुमार काल की अवस्था में जैसी प्रकृति होती है उस प्रकार की प्रकृति वाले हैं, और विक्रिया वाले कुमार की तरह उद्धत भेष याने कई नवीन-नवीन भेष बनाना, नई-नई भाषाओं को रचना, नये-नये आभरण, नये-नये शस्त्र, नये-नये आवरण, नये-नये वाहन आदिक का शौक होना याने कुमार मनुष्यों की तरह कौतूहल प्रिय होते हैं। रागादिक क्रीड़ा में इनको प्रेम होता है इस कारण से इन सबको कुमार शब्द से कहते हैं। ये सब भवनवासी रहते कहाँ है ? जहाँ हम

http://sahjanandvarnishastra.org/

आप चला करते हैं, रहते हैं, यह एक रत्नप्रभा नाम की पृथ्वी का ऊपरी भाग है। इसके नीचे-नीचे तीन विभागों के अन्दर खरभाग, पंक भाग, अव्वहुल भाग हैं। तो अव्वहुल भाग में तो नारकी जीव रहते हैं, खर भाग और पंकभाग में ये भवनवासी देव रहते हैं। यहाँ इनके बड़े अच्छे मनोज्ञ अकृत्रिम भवन बने हुये हैं जिनमें जिन चैत्यालय भी अकृत्रिम हैं। इन दो भागों में भवनवासियो का निवास इस जगह ठीक हम आपके नीचे नहीं हैं किन्तु यहाँ से असंख्यात द्वीप समुद्रों को पारकर वहाँ के नीचे खर भाग है उसमें तो असुर कुमार को छोड़ कर बाकी सब भवनवासी देव रहते हैं और जो पंकबहुल भाग है, दूसरा भाग वहां असुर कुमार के भवन हैं।

असुर कुमार नामक भवनवासी इन्द्रों का परिकर—असर कुमार के चमरनामक इन्द्र के ३४ लाख भवन हैं। ६४ हजार सामानिक देव हैं। (३३ त्रायस्त्रिश) मन्त्री पुरोहित जैसे हैं, ३ सभायें हैं, ७ सेनायें हैं, ४ लोकपाल हैं, ५ मुख्य देवियाँ पटट रानियां हैं। ४६४ हजार आत्मरक्ष हैं। इतना वैभव परिवार इस चमर इन्द्र का है—जो दिव्य भोगों को भोगता है। यह चमर इन्द्र दक्षिण दिशा का अधिपति है. इसी तरह उत्तर दिशा में असुर कुमार का दूसरा इन्द्र बैरोचन है, उसके ३० लाख भवन हैं, ६४ हजार सामानिक देव हैं, ३३ त्रायस्त्रिश मन्त्री आदि हैं, ३ सभायें, ७ सेनायें, ४ लोकपाल और ५ मुख्य रानियां, ४६४ हजार आत्मरक्ष हैं, इतना वैभव परिवार इस उत्तराधिपति बैरोचन इन्द्र का है। वह भी बहुत काल दिव्य भोगों को भोगता है। तो यों भवनवासियों में से असुर कुमार का आवास इस दूसरे भाग में है और खर भाग में शेष के ९ कुमार हैं।

नागकुमार आदि शेष ९ भवनवासियों के इन्द्रों का परिकर—इस रत्नप्रभा का जो खर भाग है उसके ऊपर और नीचे का एक-एक हजार योजन छोड़कर और इस जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप समुद्र के बाद वहाँ नीचे नागकुमार के इन्द्र धरणेन्द्र के ३४ लाख भवन हैं, ६० हजार सामानिक देव हैं, ३३ मन्त्री पुरोहित हैं, ३ सभायें, ७ सेनायें, ४ लोकपाल और ६ पट्ट देवियाँ हैं। ६ हजार आत्म-रक्ष हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर नागकुमार के इन्द्र के ४० लाख भवन हैं। बाकी और सब परिवार आदिक धरणेन्द्र की तरह पाये जाते हैं। इस तरह नाग कुमार के कुल ८४ लाख भवन हैं, सुवर्ण कुमार के ७२ लाख भवन हैं, इसके भी दो इन्द्र हैं जिसमें दक्षिणाधिपति वेणु देव इन्द्र के ३२ लाख भवन हैं, बाकी वैभव धरणेन्द्र की तरह है। इन सुवर्ण कुमारों के वेणुधारी इन्द्र के जो उत्तराधिपति हैं, उसके ३४ लाख भवन हैं। शेष बातें धरणेन्द्र की तरह हैं। विद्युत्कुमार, अग्नि कुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार, दिक्कुमार, इन छहों के भी प्रत्येक के ७६ लाख भवन हैं। उनमें भी जो दक्षिणेन्द्र हैं उनके प्रत्येक के ४० लाख भवन हैं और जो उत्तरेन्द्र हैं, दूसरे-दूसरे इन्द्र हैं, उनके प्रत्येक के ३६ लाख भवन हैं। वातकुमार नामक भवनवासियों के ९६ लाख भवन हैं, उनमें वेलम्ब इन्द्र के जो दक्षिण दिशा का इन्द्र है, उसके ५० लाख भवन हैं और उत्तर दिशा के प्रभंजन इन्द्र के ४६ लाख भवन हैं। शेष सब परिवार आदिक धरणेन्द्र की तरह हैं, तो ये भवन-वासियों के ९ कुमार खर भाग में रहते हैं और ये सब मिलकर भवन ७ करोड़ ७२ लाख हैं। इस तरह बड़े मनोज्ञ भवनों में रहने के कारण इस प्रथम निकाय में देवों का नाम भवनवासी कहा गया है। ये पहले के तीन निकाय खोटे देव कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन सहित मरण हो तो जीव इन तीन प्रकार के देवों में उत्पन्न नहीं होता। ये देव भले ही सम्यक्त्व उत्पन्न कर ले मगर सम्यक्त्व में मरण किये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हुये मनुष्य का जन्म तो स्वर्गवासी अथवा कल्पातीत देवों में होगा। इन तीन खोटे देवों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते।

व्यन्तरा: किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचा: ॥१०॥

व्यन्तर निकाय के देवों के भेदों का वर्णन—व्यन्तर नामक दूसरे निकाय के ८ भेद हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरघ, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। व्यन्तर नाम इस कारण सार्थक है कि व्यन्तर देव सभी के सभी भवनवासियों की तरह एक ठौर पर नहीं रहते। कोई भवनों में रहते तो कोई द्वीप समुद्र के तटों पर रहते, कोई आकाश में ऊपर रहते, कोई टूटे-फूटे पेड़ महल आदिक में रहते। कोई कुछ ऊपर आकाश में रहते। यों नाना दशान्तर जिनका निवास है। उन्हें व्यन्तर कहते हैं। वि अन्तर, विविध अन्तर में जिनका निवास है वे व्यन्तर कहलाते हैं। यह व्यन्तर नाम सामान्य संज्ञा है। और यह व्यन्तर नामकर्म के उदय से जो कि देवगति नामकर्म का भेद है उसके उदय से ये व्यन्तर निकाय में उत्पन्न होते हैं, इनके दो भेद हैं, सो उन व्यन्तरों में भी किन्नर नामकर्म का उदय, किम्पुरुष नामकर्म का उदय ऐसे ही सभी भिन्न-भिन्न नामकर्म के उदय से ये ८ विकल्प हो जाते हैं। इनके जो नाम दिये गये हैं उनका जो अर्थ है, ठीक उसी अर्थ में ये रहते हों सो बात नहीं है, किन्तु उस प्रकार के इनमें कौतूहल है। जैसे किन्नर का अर्थ है कि जो खोटे मनुष्यों को चाहे उन्हें किन्नर कहते हैं। जो खोटे मनुष्यों को चाहे वे किम्पुरुष। पिशित मायने मांस, उसका जो भोजन करे पिशाच अर्थ तो इसका ऐसा है, मगर कोई भी देव मांस नहीं खाते। वे तो मानसिक आहार वाले हैं। उनके कंठ से अमृत झरता है। यह तो यहां लोक में जो रूढ़ि हैं कि अमुक देव को मांस चढ़ाओ, वह खायेगा, तो जो मांस भक्षी लोग हैं वे यह सोचकर कि इसमें हमें कोई बुरा भी न कहेगा धर्म के नाम पर मांस खाने से और विषयों की पुष्टि भी होगी, इस तरह रूढ़ि चलती है। कोई भी देवी-देवता जो तुच्छ से तुच्छ हो, वह मांस नहीं खाता, लेकिन किसी-किसी पिशाच में जहां मांस मदिरा हो उसमें कौतूहल उत्पन्न होता है तो वे केवल उस खेल के निमित्त से ऐसा करते हैं, पर आहार नहीं करते। उन व्यन्तरों के आवास स्थान कहां-कहां हैं यह बात कहते हैं।

व्यन्तर निकाय के इन्द्रों का परिकर—इस जम्बूद्वीप से तिरछे दक्षिण दिशा में असंख्यात द्वीप समुद्र उल्लंघ कर वहां से नीचे खर भाग में किन्नर जाति के किन्नर इन्द्र के असंख्यात हजार नगर हैं और उस इन्द्र के चार हजार सामानिक हैं, तीन सभायें हैं, ७ सेनाय हैं, चार अग्र देवियाँ हैं, १६ हजार आत्मरक्ष हैं। ये किन्नरेन्द्र दक्षिण दिशा में रहते हैं, इसी तरह जम्बूद्वीप से उत्तर दिशा में बहुत असंख्यात द्वीप समुद्रों को छोड़कर वहां से नीचे खर भाग में किम्पुरुष इन्द्र है। इनका वैभव परिवार किन्नर इन्द्र की तरह है, इस प्रकार बाकी के ६ दक्षिणेन्द्रों का याने राक्षस को छोड़कर बाकी के बचे हुए ६ दक्षिणेन्द्रों का दक्षिण दिशा में आवास है जिसके नाम हैं सत्पुरुष, अतिकाय, गीतरति, पूर्णभद्र, प्रतिरूप और काल। इसी प्रकार उत्तर दिशा में उत्तरेन्द्रों का इन्हीं जाति के ६ इन्द्रों का आवास है। जिनके नाम हैं—महापुरुष, महाकाय, गीतयश, मणिभद्र, अप्रतिरूप और महाकाल। इन व्यन्तरों में से राक्षस जाति के व्यन्तरों के आवास ही कहने में रह गये। उनका आवास इस प्रकार है कि जो राक्षसों का भीम नाम का दक्षिणेंन्द्र है उसके पंक बहुल भाग में अर्थात् तीसरे में असंख्यात नगर हैं और उत्तर दिशा में महाभीम नामक राक्षसेन्द्र को उस ही पंक भाग में असंख्यात लाख नगर हैं। इन सभी व्यन्तरों के सामानिक आदिक परिवार बराबर-बराबर हैं। इसके अतिरिक्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस भूमि के तल पर भी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, तिराहा, चौराहा, आंगन, रास्ता, सरोवर, बगीचा, मन्दिर आदिक असंख्यात लाख आवास हैं। इस तरह नाना प्रकार के देशान्तरों में आवास होने के कारण ये सब व्यन्तर कहलाते हैं। व्यन्तर निकायों का भी जो शेष वर्णन है वह आगे आयगा। अब क्रम प्राप्त ज्योतिष्क नामक देव निकाय का वर्णन करते हैं।

ज्योतिष्का: सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णक तारकाश्च ॥१२॥

ज्योतिष्क देवों के भेदों का वर्णन—ज्योतिष्क देव ५ प्रकार के होते हैं—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा। ज्योतिष्क शब्द का अर्थ है – जो ज्योति स्वभाव वाले हैं, प्रकाश स्वभाव वाले हैं उन्हें कहते हैं ज्योतिष्क। ये देव जिन विमानों में रहते हैं वे विमान ज्योति स्वभाव वाले हैं और फिर उन देवों का भी कुछ ज्योति स्वरूप होता है। यहां मूल शब्द है ज्योति। इस शब्द से क प्रत्यय हो जाता है जो तद्धित में स्वार्थ में ही होता है अर्थात उससे अर्थ नहीं बदलता। इस प्रकार ज्योतिष्क शब्द की निष्पत्ति होती है यहां यह खास बात जानना कि ज्योति शब्द तो नपुंसक लिङ्ग है परन्तु क प्रत्यय होने के बाद पुंलिङ्ग में रूप दिया है। और इसका कारण यह है कि यह देव का विशेषण है अतएव लिंग परिवर्तन हो गया है। देव शब्द पुंलिग में है तो ज्योतिष्क शब्द भी पुंलिग में है। ज्योतिष्क नामक देवगति नामकर्म के उदय से ये ज्योतिष्क देव होते हैं और उनमें भी सूर्य नामक नामकर्म के उदय से सूर्य हुए। इसी प्रकार सबमें लगाना ये सब नाम कर्म देवगति नामकर्म के अन्तर्गत हैं।

सूत्र में ज्योतिष्क देवों के नामों का क्रम रखने का कारण—सूर्याचन्द्रमसौ यह पद अलग कह कर सूर्य और चन्द्रमा की प्रधानता बतायी है, इसका प्रभाव विशेष है। ये इन्द्र प्रतीन्द्र हैं, इनके विभव विशेष है। बल्कि ग्रह, नक्षत्र आदिक ये सब इन्हीं के आधीन हैं। ऐसा प्रभाव होने से सूर्य और चन्द्रमा इनको अलग बताया है। इससे चन्द्रमा तो इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। सूर्य और चन्द्रमा इन दो शब्दों का द्वन्द्व समास हो जाने से यहाँ आनय् प्रत्यय हुआ है और सूर्य शब्द को दीर्घ कर दिया गया है। सूर्य और चन्द्रमा इन दो में से सूर्य शब्द का प्रथम ग्रहण किया है, क्योंकि सूर्य शब्द में थोड़े स्वर हैं। दूसरी बात—प्रकाश की अधिकता सूर्य विमान में है। यद्यपि चन्द्रमा इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है तो भी लौकिकपुरुषों को देखने में सूर्य ही एक प्रभावककांतिमान मालूम होता है और मुख्य बात यह है कि सूर्य शब्द में स्वर कम हैं चन्द्रमा शब्द में स्वर ज्यादह हैं, इस कारण सूर्य शब्द का प्रथम ग्रहण किया गया। ग्रह, नक्षत्र और तारका इनमें भी यही विधि है। ग्रह में दो ही स्वर हैं। सबसे कम स्वर हैं और सबकी अपेक्षा कुछ प्रभावक हैं। इस कारण ग्रह का ग्रहण इन तीन में सबसे पहले किया गया है। अब नक्षत्र और तारका इनमें नक्षत्र विशेष महनीय हैं। इस कारण से नक्षत्र का पहले प्रयोग किया गया है।

ज्योतिष्क देवों के आवासों का विवरण—सूत्र में बताया गया है कि ज्योतिष्क देव ५ प्रकार के होते हैं। इन सबका निवास कहाँ पर है सो बताते हैं। यह जो भूमि है, रत्नप्रभा का ऊपरी हिस्सा इस समान भूमि भाग से ऊपर ७९० योजन ऊपरज्योतिष्कों का निवास शुरू होता है। उनमें सबसे पहले तारा विचरण करते हैं। तारकाओं से ऊपर १० योजन उठकर सूर्य परिभ्रमण करता है, याने इस भूमि से ७८० योजन ऊपर सूर्य परिभ्रमण करता है और वहाँ से ८० योजन और ऊपर उठकर चन्द्रमा भ्रमण करता है याने इस भूमि से ८६० योजन ऊपर चन्द्रमा परिभ्रमण करता है। एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

योजन २ हजार कोश का होता है। चन्द्रमा से ३ योजन ऊपर नक्षत्र हैं, उससे ३ योजन ऊपर बुध ग्रह है, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र नाम का ग्रह है, उससे तीन योजन ऊपर वृहस्पति नामक ग्रह है, उससे ४ योजन ऊपर मंगल नामक ग्रह है और उससे ४ योजन ऊपर शनैश्चर नाम का ग्रह है। तो यह ज्योतिष्क मण्डल कितनी मोटाई में रहा याने भूमि भाग से ७९० योजन ऊपर से तो शुरू हुआ यह और यह फिर ११० योजन तक चला। तो इसकी मोटाई ११० योजन रही और ये ज्योतिषी असंख्यात द्वीप समुद्र के ऊपर पाये जा रहे हैं। वहाँ तक जहाँ तक बातवलय प्रारम्भ न हो।

ज्योतिष्क विमानों की संख्या, उनके अवस्थान का क्रम व प्रमाण आदि—ज्योतिष्क देवों संख्या अनगिनती है। जैसे जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्र हैं तो उसकेआगे लवण समुद्र में ४ सूर्य ४ चन्द्र हैं। फिर अगले के द्वीप में १२ सूर्य १२ चन्द्र हैं। ऐसे दुगने अथवा उससे भी अधिक आगे के द्वीप समुद्र में होते गए हैं और द्वीप समुद्र असंख्यात हैं। इसमें सूर्य चन्द्र का अंदाज कर लीजिये। अनगिनते हैं फिर अन्य ज्योतिष्क विमानों की तो उनसे भी कई गुना संख्या बैठती है। अब यह ज्योतिष्क मण्डल जोकि ११० योजन मोटा है, उसमें अब यह बतलाते कि सबसे भीतर याने मेरु पर्वत के पास तो अभिजित नाम का नक्षत्र है और सबसे बाहर मूल नाम का नक्षत्र है। यह एक-एक द्वीप अथवा एक-एक समुद्र के हिसाब में बात समझनी होगी। भरणी नाम का नक्षत्र सबसे नीचे परिभ्रमण करता है और स्वाति नाम का नक्षत्र सबसे ऊपर भ्रमण करता है। सूर्य विमान तपे हुए सोने की तरह प्रभाव वाले हैं। जिनमें लोहिताक्ष रक्तवर्ण की मणि है। सूर्य विमानों का आयाम याने लम्बाई १ योजन के ६० भाग में से ४८ भाग प्रमाण है और उससे त्रिगुणी परिधिहै, ये आयाम सूची वाले हैं। जैसे कोई गोला हो लोहे का और उसके बीच में से आधा भाग कर दिया जाय तो समभाग तो ऊपर रहे और गोलाई वाला भाग नीचे रहे तो ऊपर के समभाग की सूची आयाम कहलायगी तब उससे तिगुनी परिधि हुई। ये सूर्य विमान एक योजन के ६० भाग में से ४८ भाग प्रमाण मोटे हैं। यह योजन २ हजार कोश के प्रमाण से चल रहा है। विमानों का आकार अर्द्धगोलक है।

सूर्य प्रतीन्द्र का परिकर आदि—सूर्य विमान १६ हजार देवों द्वारा यह विमान चलाया गया है। यद्यपि ज्योतिष्क विमानों का स्वभाव ही परिभ्रमण का है, फिर भी शोभा और नियोग ऐसा ही है कि ये विमान कुछ देवों द्वारा चलाये गये हैं। इस विमान के पूर्व दिशा में तो सिंह रूप वाले देव चलाते हैं, पश्चिम में हाथी रूप वाले, दक्षिण में बैल के रूप वाले और उत्तर में घोड़े का रूप धारण करके ये देव प्रत्येक ४-४ हजार देव इस सूर्य का वहन करते हैं। इस विमान के ऊपर सूर्य नामक देव है। उन प्रत्येक सूर्य देवों की ४ अग्र देवियां हैं जिनके नाम हैं—सूर्यप्रभा, सुषीमा, अर्चिमालिनी और प्रभंकरा। प्रत्येक देवी ४ हजार रूप विक्रिया करने में समर्थ है। उन देवियों के साथ दिव्य सुख भोगते हुए ये सूर्य रहते हैं जो असंख्यात लाखों विमानों के अधिपति हैं। ऐसे ये सूर्य असंख्यात हैं।

चन्द्र इन्द्र का परिकर आदि—चन्द्रमा विमान निर्मल मृडालवर्ण अर्थात श्वेत देदीप्यमान, मनोज्ञ है। इसकी सूची एक योजन के ६० भागों में से ५६ भाग प्रमाण है और इससे तिगुनी इसकी परिधि है। चन्द्र विमान का विस्तार सूर्य विमान से अधिक है। चन्द्र विमान की मोटाई एक योजन के ६० भाग में से २८ भाग प्रमाण है। यह चन्द्रमा प्रत्येक १६ हजार देवों द्वारा अभिरूढ़ होता है। पूर्व आदिक दिशाओं में क्रमसे सिंह, हाथी, घोड़ा और बैल इन रूपों की विक्रिया करने वाले देव चन्द्र विमान को ढोते हैं। उनके ऊपर चन्द्र नामक देव हैं। उन प्रत्येक चन्द्र देवों के ४ अग्र देवियाँ—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चन्द्रप्रभा, सुषीमा, अर्चिमालिनी और प्रभंकरा। प्रत्येक देवी ४ हजार रूप धारण करने में समर्थ है। उनके साथ दिव्य सुख भोगते हुए ये चन्द्र अपना जीवन बिताते हैं, जो कि असंख्यात लाख विमानों के अधिपति हैं।

ग्रह नक्षत्र तारिकाओं का विवरण—राहु विमान अंजन के समान प्रभा वाले हैं। अरिष्ट मणि से रचे गये हैं। एक योजन के विस्तार वाले हैं। २५० योजन की मोटाई वाले हैं। शुक्र विमान चांदी के वर्ण वाले हैं, एक कोश के लम्बे-चौड़े हैं, बृहस्पति के विमान कुछ कम गव्यूत (दो कोश) प्रमाण हैं। इन विमानों का वर्ण जात्यमुक्ता याने मोतियों जैसे वर्ण वाले हैं। बुध विमान स्वर्णमय हैं, शनिश्चर विमान तपे हुए स्वर्ण की आत्मा वाले हैं। मंगल विमान तपे हुए स्वर्ण की प्रभा वाले हैं। बुध आदिक ये सब विमान आधे गव्यूत प्रमाण लम्बे-चौड़े हैं। शुक्र आदिक विमान राहु के विमान की तरह मोटे हैं। ये सब प्रत्येक विमान ४ हजार देवों के द्वारा आरूढ़ होते हैं। नक्षत्र विमान में प्रत्येक विमानों के चार हजार देव वाहक हैं। तारका विमानों के प्रत्येक के २ हजार देव वाहक हैं, राहु आदिक के आभियोग्य याने जो ढोने वाले देव हैं वे किस रूप विकार करते हैं वह सब चन्द्र की तरह जानना। नक्षत्र विमानों की उत्कृष्ट मोटाई एक कोश है, तारका विमानों की मोटाई जघन्य से चौथाई कोश है, मध्यम कुछ अधिक चौथाई कोश, उत्कृष्ट आधे गव्यूत प्रमाण हैं। ज्योतिष्क विमानों की कम से कम मोटाई ५०० धनुष प्रमाण है। ये सब असंख्याते विमान हैं, इस तरह ये ज्योतिष्क देव उन विमानों पर निवास करते हैं, और ये इस भूमि भाग से ७९० योजन ऊँचाई पर हैं। मगर उन ज्योतिष्कों में से कौन-कौन से ज्योतिष्क गमन किया करते हैं, और कहाँ गमन करते हैं ? इसका उत्तर देने के लिए सूत्र कहते हैं।

मेरुप्रदक्षिणा: नित्यगतयोनृलोके ॥१३॥

मनुष्य लोक में ज्योतिष्कों का भ्रमण—मनुष्य लोक में जो सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदिक हैं वे ज्योतिष्क विमान मेरु की प्रदक्षिणा देते हुये नित्य गमन करते हैं। इस सूत्र में ज्योतिष्क शब्द तो नहीं हैं किन्तु उसके ऊपर के सूत्र से ज्योतिष्क शब्द की अनुवृत्ति की गई है। तब इस सूत्र से यह अर्थ हुआ कि इस मनुष्य लोक में जो ज्योतिष्क हैं वे मेरु की प्रदक्षिणा दे रहे हैं, वे स्थिर नहीं हैं और नित्य गमन करते हैं, इससे यह मत सिद्ध हुआ कि कभी गमन करे, कभी न करे ऐसी बात नहीं है, किन्तु सतत गमन किया करते हैं।

चल भूगोलवादियों की शंका का समाधान पूर्वक ज्योतिष्कों के भ्रमण की सिद्धि—यहां कोई शंकाकार कहता है कि सूर्य, चन्द्र आदिक तो गमन करते नहीं। यह पृथ्वी गोल है, इस पृथ्वी का भ्रमण होता है इस कारण ऐसा लगता है कि सूर्य और चन्द्र गमन कर रहे हैं तब यह सूत्र असंगत लगता है कि ज्योतिष्क दिशा गमन करते हैं। इस शंका के समाधान में कहते हैं कि किन्हीं भी लोगों से पूछ लो—प्रत्यक्ष से यह पृथ्वी भ्रमण कर रही है, ऐसा निर्णय नही बनता। जगत को स्थिर रूप का ही अनुभव हो रहा है और यह बात कोई भ्रम की नहीं, समस्त देश में, समस्त काल में, पुरुषों में, पृथ्वी के भ्रमण करने की कभी प्रतीति नहीं है। यदि कोई कहे कि जब नाव चलती हो तो उस समय ऐसा लगता है कि नाव स्थिर है और ये पृथ्वी के तट ये सब चल रहे हैं, और नाव तो स्थिर है नहीं। नाव चल रही है। वहाँ तो भ्रम बन गया। तो उत्तर में कहते हैं कि सबको तो भ्रम नहीं बना। जो तट पर खड़े हैं, दूर से देख रहे हैं उनको तो बराबर प्रतीति हो रही है कि नाव चल रही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। तो प्रत्यक्ष से तो यह प्रतीति नहीं होती कि पृथ्वी भमण कर रही है। अनुमान से भी यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि पृथ्वी भ्रमण करती है क्योंकि पृथ्वी भ्रमण करने की सिद्धि करने वाला कोई अविनाभावी साधन नहीं है। किसी बात की सिद्धि करना हो तो हेतु से ही तो होगी। जैसे यहाँ अग्नि है धूम होने से तो अग्नि का अविनाभावी लिङ्ग है। धूम, याने अग्नि न हो तो धूम नहीं हो सकता। तो जब ऐसा हेतु देखा जो साध्य का अविनाभावी है तो वह साध्य को सिद्ध कर देगा। तो इसी तरह कोई भी हेतु न मिलेगा जो इस भ्रमण को सिद्ध कर दे। कोई भी हेतु देंगे वे सब प्रमाण से बाधित होंगे। यों तो कोई कहने लगे—अग्नि को कि अग्नि ठंडी होती है—द्रव्य होने से, जैसे जल। जल द्रव्य है और ठण्डा है। तो अग्नि भी द्रव्य है सो ठंडी होनी चाहिए। यह तो प्रमाण बाधित है ना ? हाथ से छूकर देख लो अग्नि ठंडी होती है कि गरम। तो ऐसे ही पृथ्वी का भ्रमण सिद्ध होने में जो भी हेतु दिया जाएगा वह सब प्रमाण बाधित होगा। सूर्य का उदय होता, सूर्य का अस्त होता इसे भू भ्रमणवादी यों सिद्ध करते हैं कि सूर्य तो स्थिर है और जौर जमीन गोल चल रही है तो जमीन का चक्र पूरा हो गया तो उसमें उदय अस्त लगने लगता, लेकिन यह ध्यान नहीं देते कि जो सुगमतया सिद्ध है कि यह ज्योतिष्क विमान भ्रमण कर रहा है और पृथ्वी भ्रमण नहीं करती तो पृथ्वी के भ्रमण हुए बिना भी तो सूर्य के गमन से उदय-अस्त सिद्ध हो जाता है। तो उससे साध्य का अविनाभावी नियम न बन सका। तो प्रकरण यहां ज्योतिष्क विमानों की नित्य गति का था, उसमें यह शंका आई कि ज्योतिष्क गमन नहीं करते, क्योंकि भू भ्रमण करती है। उसके उत्तर में संक्षेप से कहा है। पृथ्वी परिभ्रमण नहीं करती। इसका विस्तार तृतीय अध्याय के पहले सूत्र में कर दिया गया है। हाँ तो यहाँ यह सिद्ध हुआ कि यहाँ मनुष्य लोक में सूर्य, चन्द्र आदिक नित्य गमन करते हैं। कभी गमन करें, कभी न गमन करें ऐसा नहीं है। नित्य शब्द का अर्थ निरन्तर कहा गया है।

ज्योतिष्कों की भूमि के ऊपर नीचे के क्रम से भ्रमण की असिद्धि—अब यहाँ पृथ्वी को गोल और घूमना मानने वाले शंका करते हैं कि मान लो कुछ ज्योतिषियों का भ्रमण है ध्रुव ताराओं को छोड़कर तो बाकी सब ज्योतिषियों का ऊपर नीचे भ्रमण होता है, वह भू भाग से हा ऊपर नीचे भ्रमण होता है। ऐसी शंका का निवारण नृलोक शब्द से हो गया अर्थात् मनुष्यलोक में ही ये ज्योतिष्क विमान भ्रमण करते हैं और ऊपर नीचे भ्रमण करने पर मनुष्य लोक में भ्रमण हो यह बात बनती नहीं, क्योंकि ज्योतिषियों का समूह घनोदधि पर्यन्त फैला हुआ है, याने इन समस्त तीनों लोकों को जो वायु सम्हाले हुये हैं वह तीन प्रकार की वायु उसमें प्रथम ही प्रथम जो घनोदधि वात है उस वातवलय तक याने उसके किनारे तक ज्योतिषियों के विमान फैले हुए हैं। अगर ये विमान ऊपर-नीचे भ्रमण करें तो कितनी पृथ्वियों का विदारण होना पड़ेगा। अब यहाँ शंकाकार कहता है कि यह प्रसंग नहीं आए इसी कारण तो इसका ११२० योजन भूगोल का विस्तार माना है। इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि इसके उत्तर दिशा में पृथ्वी मण्डल की म्याद यह बन ही नहीं सकती, क्योंकि इससे अधिक उत्तर तरफ भूमि का परिमाण है, वैज्ञानिक भी अन्दाज करते हैं और आगम से भी यह सिद्ध है कि जो जम्बूद्वीप की भूमि है सो यहां भरत क्षेत्र में दक्षिण की ओर उसका किनारा है जहां म्लेच्छ खण्ड है और उनके बीच आर्य खण्ड हैं। आर्य खण्ड से ही लवण समुद्र की वेदी का स्पर्श है, तो दक्षिण तरफ तो इस जम्बूद्वीप को भूमि का

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अन्त आ सकता है और जल ही जल मिलेगा, किन्तु उत्तर की ओर तो यह कुछ ही कम एक लाख योजन भूमि पड़ी हुई है।

पृथ्वी की गेंद की तरह गोल होने की असिद्धि—अब दूसरी बात सोचिये कि यदि यह मानें कि पृथ्वी गेंद की तरह गोल है तो यह मानने पर गंगा, सिंधु आदिक नदियाँ पूर्व और पश्चिम समुद्र में गमन करने वाली कैसे घटित हो सकती हैं ? अगर शंकाकार कहे कि पृथ्वी तो गोल है, पर उसके ऊपरी मध्य से वे नदियाँ निकली हैं इस कारण उनकी पूर्व पश्चिम समुद्र में गति बन जायगी। तो अच्छा सुनो। वे बतावें कि भूगोल का मध्य है कहाँ ? यदि कहो कि उज्जैनी से तो भाई उज्जैनी से तो गंगा, यमुना आदिक नदियाँ निकली नहीं हैं। यदि शंकाकार कहे कि जहाँ से गंगा, सिंधु आदिक नदियाँ निकली हैं उसी को ही मध्य मान लिया जाय तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि गंगा जहाँ से निकली है उस देश को यदि मध्य मान लिया जाय तो सिंधु जहाँ से निकली है उस भाग को कैसे मध्य माना जा सकता है क्योंकि गंगा के मूल का और सिंधु के मूल का तो व्यवधान बहुत अधिक है। यदि शंकाकार कहे कि अपने से जो बाह्य देश हैं, बहुत दूर देश हैं उनकी अपेक्षा इस भाग को मध्य मान लिया जायगा तो उत्तर इसका बहुत ही हास्यपूर्ण है कि फिर तो कोई भी जगह अमध्य न रहेगी याने बिना बीच के न रहेगी। जिस चाहे जगह को बीच बोल दें क्योंकि सभी जगह से बाहर में कोई न कोई देश जुड़े पड़े हुए हैं। फिर तो उज्जैनी मध्य है, यह सिद्धांत रहा ही नहीं। और अगर इसी हठ पर रहें कि मध्य तो उज्जैनी को ही मानते हैं। तो देखो उज्जैनी के उत्तर से जो नदियां निकलेंगी उनका मुख तो दक्षिण की ओर हो गया और उज्जैनी के दक्षिण से जो नदियाँ निकलेंगी उनका मुख उत्तर को हो गया, इसी तरह से पश्चिम से निकलीं तो पूर्व को मुख हो गया, पूर्व से निकलीं तो पश्चिम को मुख हो गया। तो इसकी गति तो उस ओर ही हो जायगी कि जिस ओर नदी का मुख है। यदि शंकाकार कहे कि भूमि ऊँची-नीची है उससे नदी की गति में भेद आ जायगा तो फिर सारी जमीन को गोल मानने पर तो बड़े भारी अवगाह की प्रतीति होनी चाहिये। बहुत बड़ी गहराई की प्रतीति हो, ऐसा कहीं नहीं प्रतीत होता। जितने नीचे देश में अवगाह है उतना ही ऊपर भूगोल पर बन रहा था तब यह मानना चाहिये कि पृथ्वी धरातल के समान ही है। गेंद की तरह गोल नहीं है। नहीं तो ये नदियाँ भूगोल के अनुरूप का उल्लंघन करके इस गोल भूमि का विदारण कर देंगी। इस कारण पृथ्वीतल समान ही है, यह ही बात संगत होती है और यदि भू को समान धरातल का न माना जाय तो समुद्र आदिक ठहरेंगे भी नहीं। यदि कहो कि भूमि में ही ऐसी शक्ति विशेष है कि समुद्र आदिक की स्थिति बन जाती है तब तो ऐसा भी कह देना चाहिये कि भूमि में ही शक्ति विशेष ऐसी है कि समान भूमि होने पर छाया आदिक का भेद बन जाय क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि लंका भूमि की ऐसी शक्ति है कि मध्याह्न में तो पुरुषादिक को अल्प छाया रहती है और मान्य खेट आदिक उत्तर भूमि में ऐसी शक्ति है कि वहाँ रहने वाले पुरुषों की तारतम्य को लिए हुए छाया है अर्थात किसी की छोटी किसी की बड़ी ऐसी विचित्र छाया है तथा समतल वाली भूमि मानने पर सबके ऊपर स्थित सूर्य होने से छाया का वियोग नहीं है। छाया का निमित्त यह सूर्य प्रकाश ही तो है। अब समतल होने पर भी किसी-किसी जगह गड्ढा या ढेर होने से पृथ्वी ऊँची नीची पड़ती रहे इस कारण छाया में भी कुछ वृद्धि हानि सम्भव है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भूमि की समतलता की सती प्रतीति—यहां प्रकरण यह चल रहा है कि यह जम्बूद्वीप, यह पृथ्वी समतल है और ऊपर आकाश में सूर्य, चन्द्र हैं और वे सूर्य, चन्द्र इस मेरु की प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इस सम्बन्ध में शंकाकार ने यही तो अभिप्राय रखा था कि भूमि को गोल तो मानो मगर गेंद की तरह गोल मानो और भूमि को चलती हुई मानो और सूर्य, चन्द्र आदिक को स्थिर माना। उस सम्बन्ध में बहुत कुछ वर्णन हुआ। अब यहां यह बात स्पष्ट समझना चाहिए कि ये जो भूमि है सो है तो समतल मगर ठीक दर्पण की तरह समतल नहीं है। कोई स्थान ऊंचा है कोई नीचा है और इस तरह से ऊँचा-नीचा होने से जगह-जगह ऊँचा-नीचा आकार बन गया है। और इसी कारण उज्जैनी के उत्तर-उत्तर की भूमि में जो नीचे की ओर गया है मध्य दिन में छाया की वृद्धि विरूद्ध नहीं होती और जो लोगों को यह भ्रम हुआ है कि सूर्य का जब उदय होता है तो पृथ्वी से लगा हुआ ही उदित होता है। सूर्यादिक भूमि से उठकर उदित नहीं होते, किन्तु आँखों से दिखने की पद्धति इस प्रकार है। जैसे कोई रेल की लाइन बिल्कुल सीध में बिछी हुई है और यहाँ से एक मील दूर या आधा मील दूर में लाइन दिखी तो दोनों लाइन मिली हुई दिखती हैं। तो क्या ऐसा दिख जाने मात्र से वे मिल जाती हैं ? नहीं। पर दिखने की ऐसी ही विधि है कि दूर का पदार्थ हल्का दिखे मिला हुआ दिखे, स्पष्ट नजर न आएगा। तो इसी दर्शन विधि के कारण सूर्य भूमि से इतना ही सर्वत्र ऊँचा है जितना यहाँ पाया जा रहा है।

दिन रात्रि के प्रमाण की समता व विषमता का कारण—अब दिन रात कभी समान होते हैं, कभी कम-बढ़ होते हैं इस कारण शंका हो सकती है। उसके विषय में यह जानना चाहिए कि सूर्य जो मेरु की प्रदक्षिणा दे रहा है तो सूर्य की खुद की गति १८४ मार्ग में है। जिसमें ६५ मार्ग तो जम्बूद्वीप के भीतर हैं। जम्बूद्वीप की वेदिका से १८० योजन भीतर में रहकर प्रकाशित करता है और जम्बूद्वीप की वेदिका से बाहर में जो गलियां हैं वे ११९ हैं। ये गलियां लवण समुद्र के भीतर १३३ योजन भीतर जाकर प्रकाश में आती हैं। तो गलियाँ १८४ हैं, जिन गलियों में सूर्य क्रम क्रम से बदल-बदल कर चलता है। आखिरी गली पर पहुँचने के बाद फिर भीतर गलियों में क्रम से आता है और यही कारण है कि जब भीतर की गलियों में चलता है तो उत्तरायण कहलाता है और बाहर की गलियों में भ्रमण करता है तो दक्षिणायन कहलाता है। याने उन गलियों में आधी-आधी गलियां उत्तरायन और दक्षिणायन के लिए हैं एक गली से दूसरी गली का अन्तर दो योजन है, तब उदयान्तर कितना होगा ? दो योजन और एक योजन के ६० भाग में से ४८ भाग याने गलियों का अन्तर और सूर्य का विस्तार ये उदयान्तर हैं। देखिये ३,१६,७०२ (तीन लाख सोलह हजार सात सौ दो) परिधि प्रमाण को धारण करता है सूर्य, जबकि तुला राशि और मेष राशि में प्रवेश होता है। मेरु के पास ४५ हजार योजन तथा ५५ योजन और याजन के ६१ भागों में से २८ भाग इतना जब मेरु के निकट सूर्य प्रकाश में आता है तब दिन में भी १५ मुहूर्त हैं और रात्रि में भी १५ मुहूर्त हैं, याने दिन और रात बराबर होते हैं। इस सम रात्रि दिन में ६२/६१ भाग प्रमाण और कुछ अधिक ५२७८ योजन प्रमाण मुहूर्त की गति का क्षेत्र है, याने एक मुहूर्त में सूर्य उतना गमन कर जाता है। तब मनुष्यों को सही मध्य पूर्व दिशा में इस सूर्य की प्रतीति होती है और लंका आदिक में कुरु क्षेत्रादि अन्त-देश स्थान में अभिमुख ही सूर्य का उदय होता है। यहाँ कोई शंका करता है कि दूसरे दिन फिर उस प्रकार का प्रतिभास क्यों नहीं होता ? तो उत्तर है कि दूसरी गली में सूर्य का उदय होता है और उससे दिन-रात के प्रमाण में कुछ अन्तर आ जाता है। जब उत्तरायन सूर्य होता है, तब उत्तर दिशा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के कोने से सूर्य निकला ऐसा प्रतीत होता, जब दक्षिणायन सूर्य होता है तो कुछ दक्षिण कोने से सूर्य का प्रतिभास होता है। कोई यहाँ यह शंका कर सकता कि जब सूर्य का उदय दक्षिण के कोने में और उत्तर के कोने में हो जाया करता है तो फिर पूर्व दिशा से ही उदय होता है यह कैसे सिद्ध होगा ? तो उत्तर यह है कि दक्षिण के कोने और उत्तर के कोने में सूर्य तो बहुत कम आता, जब उन गलियों में सूर्य आता है। विशेष समय पूर्व दिशा में रहता और उसके बीच पूर्व दिशा होती है जो गलियों के कारण थोड़ा दक्षिण की ओर और उत्तर की ओर हो जाता है। तो पूर्व में सूर्य दीखा इस कारण से कोई ऐसा मान ले कि कि पृथ्वी गोलाकार है तो यह बात नहीं बनती, क्योंकि गेंद के आकार वाली पृथ्वी माना जाने पर पूर्व से ही सूर्यदर्शन की सिद्धि नहीं होती है। जिस समय सूर्य सबसे भीतर के मार्ग में आता है जो मेरु से केवल उतना ही दूर रहता है—कितना ? ४४८०० योजन ही जब मेरु से दूर रहता है उस समय दिन में १८ मुहूर्त होते हैं और रात्रि में १२ मुहूर्त होते हैं। तब एक मुहूर्त में गति क्षेत्र ५२५१ २९/६० योजन है। जब सबसे बाहर वाली गली में सूर्य चलता है तब मेरु से ४५३०३ योजन दूर रहता है, उस समय दिन १२ मुहूर्त का होता है, रात्रि १८ मुहूर्त की हो जाती है। उस समय एक मुहूर्त में गमन क्षेत्र ५३०५ योजन तथा १५/६० है। यह भीतरी और बाहरी गली में सूर्य के रहने पर दिन-रात की बात कहा, शेष हानि वृद्धि आगम के अनुसार जानना।

चन्द्र गति, गलियां, सूर्य गति, गलियां, छाया, सूर्य, चन्द्र ग्रास आदि से पृथ्वी के सत्य आकार का परिचय—चन्द्रमा की गलियां १५ गलियाँ हैं, द्वीप में ५ और समुद्र पर १० हैं। इन १५ गलियों का अन्तर १४ हो गए। एक-एक अन्तर का प्रमाण करीब ३५ योजन है यहाँ जो दिन-रात की कमती-बढ़ती देखी जाती है उससे पृथ्वी की गोलाकारता का अनुमान दूषित हो जाता है। जब छाया किसी की लम्बी दिखती है वह सूर्य की गति दूर में है, ऐसा अनुमान कराती है। जब छाया बहुत छोटी दिखती है तो वह भी सूर्य की गति का, समीपता का अनुमान कराती है। यहाँ शंकाकार कहता है कि दोपहर के समय कभी छाया नहीं है और दूसरी जगह छाया दिखती है तो पृथ्वी गोलाकार सिद्ध होती है। समाधान—ऐसी स्थिति में भी जमीन का गोलाकार होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु इस ही जमीन पर कोई प्रदेश नीचे हैं, कोई प्रदेश ऊँचे हैं, यही सिद्ध होता है और आगम में बताया भी गया है कि भरत और ऐरावत क्षेत्र का वृद्धि ह्रास होता है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में। इस सूत्र का अर्थ मुख्य से तो क्षेत्र का है और साथ ही साथ वहां के रहने वाले मनुष्यादिक की वृद्धि ह्रास का है। सूर्य का जब ग्रहण होता है तो वह ग्रहण गोल पृथ्वी की छाया से नहीं होता, क्योंकि भूगोल वादी तो पृथ्वी को सूर्य से बहुत छोटा मानते हैं। उससे सूर्य का सर्व ग्रास कैसे हो सकता ? और चन्द्र की छाया से सूर्य का ग्रहण होता है यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि उस प्रकार तो फिर पृथ्वी की गोलाई से चौगुनी छाया में वृद्धि घटित होना चाहिये इससे राहु विमान द्वारा समस्त ग्रास होने पर ग्रहण होना युक्त हो बैठता है। भूमि समतल है, और जब सूर्य बहुत दूर होता है तो यहां छाया में वृद्धि होती है। जब सूर्य निकट होता है तो छाया में हानि होती है। चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण किस प्रकार होता है कि जब राहु केतु का विमान इन विमानों के एकदम नीचे आता है तो उस समय इसका ग्रहण होता है। राहु का विमान सूर्यादिक के विमान से छोटा नहीं है। सूर्य विमान तो ४८/६१ योजन विस्तार वाला है याने एक योजन के ६१ भाग में से ४८ भाग प्रमाण सूर्य विस्तार है, और एक योजन के ६१ भाग के ५६ भाग प्रमाण चन्द्र विमान का विस्तार हैं और राहु विमान का विस्तार पूरा एक योजन लम्बा-चौड़ा है। यह सबका योजन दो हजार कोश का है। जब कभी यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

राहु विमान चन्द्र बिम्ब और सूर्य बिम्ब के कुछ थोड़ा बगल होता है तो और तरह का ग्रहण होता है, जब पूरा नीचे आता है तो पूरा ग्रहण दिखता है। सूर्य, चन्द्र विमान तो स्वच्छ मणिमय है और राहु विमान अंजन के समान प्रभा वाला है। इस कारण राहु विमान द्वारा सूर्य, चन्द्र का ग्रहण सिद्ध होता है। कोई लोग राहु को केवल सिर मात्र ही मानते हैं या सर्पाकार ही कहते हैं, उनका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि सिरमात्र या सर्पाकार राहु से सूर्य, चन्द्र का ग्रहण सम्भव नहीं हैं। यहां कोई यह आशंका रख सकता है कि कभी तो राहु विमान से पूरा ग्रहण होता, कभी थोड़ा, तो इस परिवर्तन का क्या कारण है ? उत्तर इसका यह है कि सूर्य, चन्द्र राहु इन सभी विमानों के आभियोग्य देव होते हैं, जिनकी लीला उन विमानों को ढोने की होती है, उनका इस ही प्रकार का कर्म विपाक है कि राहु विमान के आभियोग्य देव उसी प्रकार से उसे ढोते हैं, जिसके भेद से ग्रहण भेद हो जाता है। गोलावादी यहाँ शंका करते हैं कि यह भूमि गोलाकार है अन्यथा सम रात्रि आदिक का होना बन नहीं सकता। तो उत्तर में कहते कि अभी इसके समाधान का विस्तृत वर्णन हुआ है। सूर्य की गति के, सूर्य की गली के भेद से यह रात्रि और दिन का समान होना, विषम होना सिद्ध होता है। इस प्रकार इस प्रकरण में बताया गया है कि यह जम्बूद्वीप थाली के समान गोलाकार वाला है और सूर्य, चन्द्र ऐसी-ऐसी गोलाई से भ्रमण करते हैं और यहाँ उनकी गति और प्रभा की विविधता से दिन रात्रिमात्र होते हैं।

सूर्य चन्द्र व उनके परिवार विमानों को संख्या का लघु चित्रण—द्वीप समुद्र पर कहाँ कितने सूर्य, चन्द्र आदिक हैं इसका थोड़ा सा विवरण किया जाता है। ज्योतिष्क देव मेरु के चारों ओर हैं, लेकिन मेरु से ११२१ योजन तक कोई ज्योतिष्क देव विमान नहीं है। जम्बूद्वीप में दो सूर्य, दो चन्द्र, ५६ नक्षत्र, १७६ ग्रह तथा १३३९५० कोड़ा-कोड़ी तारा है। लवण समुद्र पर ४ सूर्य, ४ चन्द्र, ११२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह तथा २६७९०० कोड़ा-कोड़ी तारा हैं। धातकी खण्ड पर १२ सूर्य, १२ चन्द्रमा, ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह तथा ८०३७०० कोड़ा-कोड़ी तारा हैं। कालोद समुद्र पर ४२ सूर्य, ४२ चन्द्रमा, ११७६ नक्षत्र, ३६९६ ग्रह तथा २८१२९५० कोड़ा-कोड़ी तारा है। पुष्करार्द्ध में ७२ सूर्य, ७२ चन्द्रमा, २०१६ नक्षत्र, ६३३६ ग्रह तथा ४८२२२०० कोड़ा-कोड़ी तारा हैं। बाहरी पुष्करार्द्ध में ज्योतिषियों की उतनी ही संख्या है जितनी कि भीतरी पुष्करार्द्ध में है। समस्त पुष्कर द्वीप के ज्योतिषियों की संख्या से दूनी संख्या पुष्करवर समुद्र में है। उसके आगे द्वीप समुद्र में दूनी-दूनी ज्योतिषियों की संख्या है। ताराओं में एक से दूसरे का अन्तर जघन्य एक कोश का ७ वाँ भाग है, मध्यम अन्तर ५० कोश है, उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है। सूर्य-सूर्य का जघन्य अन्तर और चन्द्र-चन्द्र का जघन्य अन्तर ९९६४० योजन है, सूर्य का अन्तर और चन्द्र का अन्तर उत्कृष्ट रूप से १००६६० योजन है, एक-एक चन्द्रमा के कितने विमान परिवार हैं। तारा विमान तो ६६९७५ कोड़ा-कोड़ी हैं, ८८ महाग्रह हैं, २८ नक्षत्र हैं। इस प्रकार ये ज्योतिष्क देवों के विमानों का समूह इस मध्यलोक में समस्त द्वीप समुद्र पर फैला हुआ है।

अब तक तीन निकाय के देवों का कथन हुआ है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क। भवनवासियों के आवास भवन तो इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे प्रथम दो भागों में है। व्यन्तर देवों का निवास रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम दो भागों में तथा मध्यलोक के द्वीप समुद्र आदिक के तटों पर, खण्डहरों पर कुछ ऊपर आकाश में है। ज्योतिष्क देवों के आवास द्वीप समुद्र पर अभी बताये ही गये हैं। ये तीनों ही प्रकार के देव वैमानिक देवों ओछे माने गये हैं। सम्यग्दर्शन में किसी का मरण हो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो इन ३ प्रकार के देवों में उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। भले ही मिथ्यात्वसहित इनकी उत्पत्ति है, किन्तु ये अपनी पर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं, इसमें कुछ सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, और मिथ्यादृष्टियों की इनमें बहुलता है। भवनवासी और व्यन्तरों में से अनेकों देव और इन्द्र यक्ष यक्षिणी भगवान के देवों में भी उपस्थित होते हैं और जन्म कल्याणक के समय तो जैसे वैमानिक कल्पोपपन्न देव और उनके इन्द्र उत्सव मनाने आते हैं वैसे ही भवनत्रिकों के देव और इन्द्र भी जन्म कल्याणक मनाने आते हैं। इस प्रकार ज्योतिष्क विमान साधारण निर्देश करके अब यह बतलाते हैं गतिमान् ज्योतिष्कों के सम्बन्ध से व्यवहार काल का परिज्ञान होता है।

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

काल विभाग की उत्पत्ति का परिचय—ज्योतिष्क देवों के द्वारा किया हुआ काल विभाग है अर्थात् घड़ी, घंटा, दिन, महीना आदिक जो व्यवहार काल चला है, उसका आधार है इन ज्योतिषी-देवों का गमन। तत्कृतः इस शब्द का अर्थ है—उन ज्योतिष्क देवों के द्वारा किया गया और काल-विभागः का अर्थ है काल का विभाग। काल विभागः यह शब्द सुनकर जिज्ञासा होती है कि काल का विभाग, इसका अर्थ क्या है ? तो यहां काल शब्द से मतलब होता है, व्यवहार काल का। कोई मुख्य काल हो तब ही व्यवहार काल बनता है, जिसका विभाग किया गया याने विभाग वाला। मूल में जो आधारभूत है वह काल द्रव्य है और मुख्य काल है—सो विभाग वाला है वह मुख्य काल है, क्योंकि विभाग वाले के फल में वह निमित्त होता है। जितना भी व्यवहार काल का प्रसार है उसका सही परिणमन है उस समग्र परिणमन का श्रोत है काल नामक द्रव्य। /सो आवलिम पल घड़ी दिन-रात आदिक विभाग वाला जो व्यवहार काल है वह हुआ एक फल। मुख्य न हो तो व्यवहार कहां से हो ? तो उस व्यवहार काल का नाम जिसकी वजह से है वह है निश्चय काल द्रव्य। सो वह मुख्य काल द्रव्य है और मुख्य काल के बारे में समस्त कालवादियों ने माना है, विवाद नहीं उठाया है। यहाँ कोई ऐसी शंका कर सकता है कि यहाँ कहना कि विभाग वाला फल जब है तो उसका निमित्त भूत कोई मुख्य वस्तु सामान्य है। तो इसमें आकाश आदिक के साथ मेल नहीं बैठता, क्योंकि विभाग तो यहां भी हो रहे हैं। एक छोटा, एक बड़ा आकाश। सो आकाश तो एक मुख्य द्रव्य है, व्यापक है एक है लेकिन उसके विभाग तो उसमें बन रहे। यहां मेल नहीं बैठता है। उसके उत्तर में कहते हैं कि आकाश का भी विभाग और विभागी जैसा प्रतिबोध होता है, क्योंकि अवगाहन आदिक जो कार्य हो रहे हैं वे मुख्य आकाश द्रव्य को सिद्ध कर रहे हैं। इतना यहाँ अवगाह मिल गया। इस तरह जो अव-गाह कार्य की उत्पत्ति हो रही है तो उसमें विभागवान आकाश ही तो मुख्य बना। इसलिए यह जानना कि काल कोई मुख्य द्रव्य होता है तब ही परिणमन, पर्याय सिद्ध हो पाती है।

अवस्थित व अनवस्थित द्रव्य के विभागों के प्रकार—अब यहाँ एक शंकाकार कहता है कि विभाग मायने क्या ? अवयव का भेद होता है तो यदि अवयव का भेद रूप विभाग अर्थ माना जाये तो यह विभाग आकाश में नहीं है, क्योंकि आकाश तो एक अखण्ड द्रव्य है, एक अखण्ड द्रव्य में विभाग कैसे ? जैसेकपड़े के अवयव बन जाते, घड़े के अवयव बन जाते इस प्रकार अवयव आकाश में तो बनते नहीं, फिर विभाग और विभागवान आकाश में कैसे समझा जा सकता है ? और अगर प्रदेश रूप का विचार विभाग मानते हो याने आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, उससे अनन्त प्रदेश हैं तो उन प्रदेश के रूप से अगर विभाग मानते हो तो प्रदेश वाला विभाग तो काल में भी है, तो उपचरित प्रदेश वाले विभाग को पायेंगे तो वह सिद्ध साधन ही है मायने है ही। उसको क्या सिद्ध करना है ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो उत्तर में कहते हैं कि बात यह है कि परमार्थ से ही आकाशादिक के सब प्रदेशों का निश्चय है याने ये प्रदेशवान हैं, प्रदेशमय हैं और वे सदा अवस्थित प्रदेश हैं क्योंकि एक द्रव्य होने से। वह आकाश एक द्रव्य है और उसके जो भी प्रदेश हैं अनादि अनन्त काल में सदा वहीं के वहीं अनन्त प्रदेश रहे। अवयव दो प्रकार के हुआ करते हैं, एक तो सदा अवस्थित के अवयव और एक अनवस्थित के अवयव, याने जो पदार्थ सदा रहा करते हों उनके प्रदेश और जो सदा नहीं रहते, जैसे कपड़ा आदि तो वह अनवस्थित द्रव्य है, उसके प्रदेश तन्तु आदिक हैं, वे अनवस्थित हैं। अवस्थित द्रव्य के प्रदेश अवस्थित और अनवस्थित द्रव्य के प्रदेश अनवस्थित। यदि वस्त्र आदिक के अवयवों को भी अवस्थित मान लिया जाये तो वस्त्र भी अवस्थित बन बैठेंगे। कोई पदार्थ अनित्य हो, अस्थायी हो और उसके अवयव स्थायी रूप से मान लिये जायें यह तो विरोध की बात है। तो यह मानना कि यहाँ आकाश द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव ये सब अवस्थित प्रदेश वाले हैं। सो आगे सूत्रकार स्वयं बतायेंगे कि इन द्रव्यों के कितने प्रदेश होते हैं। वह सब अनादि सिद्ध रचना है।

अखण्ड द्रव्य में प्रदेश प्रदेशी भाव व अवयव अवयवी भाव की जानकारी—अब यहां कोई शंका करता है कि आकाश आदिक के प्रदेश अनादि से हैं, तो प्रदेश में और उस द्रव्य में प्रदेश प्रदेशी भाव वास्तव में कैसे बनेगा, क्योंकि जैसे आकाश सदा से है, अनन्त प्रदेशी है तो वही तो उसका सर्वस्व कहलाया। वास्तव में तो प्रदेश प्रदेशी भाव वहां ही हो सकता है जहाँ अवयव सादि हो। वह द्रव्य भी सादि। जैसे कपड़ा किसी दिन बना तो उस कपड़े के अवयव भी किसी दिन बने। तो जो सादि हो ऐसे पदार्थ में तो अवयव अवयवी भाव की कल्पना बन सकती है, परन्तु जो अवस्थिति प्रदेश हो उन सब पदार्थों में प्रदेश प्रदेशी भाव की कल्पना नहीं होती। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आकाश एक द्रव्य है और वह अनादि से ही अवस्थित है। बात तो ठीक है मगर आकाश में यह बड़ा आकाश है यह छोटा आकाश, उसका महत्त्व आदि गुण जो अनादि से प्रयोग किया जा रहा है उसमें गुण-गुणी भाव वास्तविक कैसे सिद्ध होगा? यदि कहा जाए कि गुण-गुणी लक्षण बनाकर वहां प्रदेश प्रदेशवान अवयव अवयवी ये सब सिद्ध हो जायेंगे तो ऐसे ही आकाश और आकाश के प्रदेशों में प्रदेश प्रदेशी लक्षण का योग बन जाएगा जिससे प्रदेश प्रदेशी भाव बन जाएगा। जैसे कि गुण-पर्यायवद् द्रव्यं। इस सूत्र के आकाश आदिक के द्रव्य स्वरूप का लक्षण कहा गया है इस प्रकार महत्त्वादिक के बोध के लिए भी तो बताया है—द्रव्याश्रया: निर्गुणा: गुणा, ऐसा गुण का भी लक्षण बन गया। और वहाँ उन अवयवों का जो एकत्व परिणाम है सो प्रदेशी द्रव्य हैं, यह प्रदेशी का लक्षण बन गया। परन्तु काल द्रव्य तो एक द्रव्य है और वे तो असंख्यात द्रव्य हैं, सो जितने वे परिणाम हैं, जितने वे अवयव हैं वे असंख्यात काल द्रव्य के अवयव हैं। एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु द्रव्य अवस्थित हैं और उस एक-एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें अवयव होती हैं।

व्यवहार काल व निश्चय काल का सम्बन्ध व विश्लेषण—पर्याय दृष्टि से भूत, वर्तमान, भविष्य की अनन्त पर्यायें उस एक काल द्रव्य में बन जाती हैं। यदि ऐसा न माना जाए याने एक-एक प्रदेश पर एक-एक काल द्रव्य न माना जाए तो उस देश में रहने वाले जो अनन्त द्रव्य हैं परमाणु आदिक तो उन अनन्त पदार्थों का परिणमन कैसे हो? उस देश में रहने वाले जो अनन्त परमाणु आदिक द्रव्य हैं उनके उस-उस देश में अवस्थित काल द्रव्य हैं उनके समय नामक पर्याय उनके बर्तने के कारण हैं। तो चूँकि काल के विभाग पाये जाते हैं उससे सिद्ध है कि विभाग वाला कोई मुख्य काल अवश्य है और जो वह मुख्य काल है सो ही काल द्रव्य है सो उन गतिमान ज्योतिषियों की

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गति और ज्योति प्रतिभासन के निमित्त से काल का विभाग बन जाता है। काल दो प्रकार के माने गये हैं—(१) व्यवहार काल और, (२) मुख्य काल, उनमें से व्यवहार काल का विभाग तो ज्योतिष्क गतिप्रभाकृत है जो क्रिया विशेष जाना जाता है, और मुख्य जो काल है, जिसका आगे वर्णन आएगा वह अनादि निधन है। प्रत्येक काल द्रव्य का एक-एक प्रदेश है और वह स्वतः सिद्ध है और अन्य द्रव्यों के प्रदेश स्वतः सिद्ध हैं। यहाँ कोई शंका करता है कि मुख्य काल कुछ नहीं हुआ करते। सूर्यादिक की जो गति है उससे भिन्न कोई मुख्य काल नहीं है। और यों ही काल शब्द की उपपत्ति भी है। कलावों के समूह का नाम काल है और कलायें क्रिया की अवयव हैं, और जहाँ अस्तिकायों का उपदेश है वहां पांचों ही अस्तिकाय आगम में बताये गये हैं। छठवां अस्तिकाय नहीं है। समाधान—ऐसा मनमाना अर्थ लगाना युक्त नहीं है क्योंकि क्रिया का काल व्यवहार करना यह मुख्य काल के बिना हो नहीं सकता। जो यह सूर्य के गमन आदिक में क्रिया है ऐसी रूढ़ि से जो काल का व्यवहार बनता है तो यह मुख्य काल के अस्तित्व को बताता है यह व्यवहार काल। जैसे कोई खिलौना बनाता है—गाय बनाता, घोड़ा बनाता तो खिलौना में तो व्यवहार किया है मगर वास्तव में गाय हो, घोड़ा आदिक हो तब ही तो दूसरी जगह उसका व्यवहार बन सकता है। तो काल शब्द का अर्थ यह मानो —कल्प्यते क्षिप्यते प्रेर्यतेयेन क्रिया वद्द्रव्यं स काल:,याने जिसके द्वारा प्रेरा जाए क्रियावों में द्रव्य वह काल द्रव्य है। काल का जो अस्तिकाय में नाम नहीं लिया गया उसका कारण है कि काल द्रव्य में प्रदेश का समूह नहीं है, समस्त काल एक प्रदेशी है। काल में तो एक ही प्रदेश है इसलिये वह अस्तिकाय नहीं कहलाता। हाँ काल का अस्तित्व जरूर है। यदि इसका अस्तित्व न होता तो ६ द्रव्य न बताये जाते। तो काल कोई द्रव्य है, उसकी जो पर्याय है वह समय है और उन समयों का जो व्यवहार में माना गया समय समूह है वह सब व्यवहार काल है। तो ज्योतिषियों के द्वारा यह काल विभाग किया गया है यह अर्थ सुसंगत है। इस प्रकरण में यह बताया गया है कि 'ज्योतिष्क देवों के विमानों की मनुष्यलोक में नित्य गति के कारण काल का विभाग बनता है। तो अब यह जानना आवश्यक हो गया कि मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिष्कों की क्या स्थिति है? उसी को प्रकट करने के लिये सूत्र कहते हैं।

वहिरवस्थिता: ॥१५॥

मनुष्यलोक से बाहर ज्योतिष्कों की स्थिति—मनुष्यलोक से बाहर ज्योतिष्क विमान सब अवस्थित हैं, जहाँ हैं, वहीं हैं, उनकी गति नहीं होती। यहां वहि: शब्द का अर्थ है बाहर। कहां से बाहर? इसके लिए प्रकरण वाले सूत्र से नृलोके शब्द की अनुवृत्ति आती है। यद्यपि उस सूत्र में नृलोके शब्द सप्तमी के एक वचन में आया है तो भी अर्थ के वश से विभक्ति का परिणमन हो जाता है। यहां पंचमी विभक्ति में अर्थ होगा। यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि जब पहले यह कह आये कि मनुष्यलोक में नित्य गति वाले ज्योतिष्क विमान हैं तो इस ही वचन से यह सिद्ध हो जाता है कि नृलोक से बाहर ज्योतिषियों की गति नहीं है किन्तु अवस्थित हैं, फिर इस सूत्र के कहने की आवश्यकता क्या रही? उत्तर में कहते हैं कि अभी दोनों ही बातें असिद्ध थीं याने मनुष्यलोक से बाहर ज्योतिषियों का अस्तित्व है या नहीं और अवस्थित हैं या नहीं, दोनों ही अप्रसिद्ध थे तो उन दोनों की सिद्धि के लिए यह सूत्र कहा गया है। यदि यह सूत्र न कहते तो उस सूत्र का अर्थ इतना ही होता कि ज्योतिष्क मनुष्यलोक में ही हैं और नित्यगति वाले हैं याने उससे यह अर्थ लगता कि ज्योतिष्क देव हैं ही मनुष्यलोक में और नित्यगति करने वाले हैं तो प्रकृत सूत्र का भाव नहीं निकलता इस सूत्र के कहे बिना। अत: यह सूत्र कहा गया है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com